ग्रामीण जीवन का यथार्थ और 'सूत्रधार'

(एम. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक

डा. ओम प्रकाश सिंह

शोधकर्ता

उर्वशी गहलौत

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 29/7/ 2005

DECLARATION

I declare, that the work done in this dissertation entitled - **GRAMIN JEEVAN KA YATHARTH AUR 'SUTRADHAR'** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Urvashi Gahlout

Name: **URVASHI GAHLOUT**
(Research Scholar)

DR. OM PRAKASH SINGH
(Supervisor)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature
and Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

M. S. Hu

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages,
School of Language, Literature and
Cultural Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

नानी को समर्पित

अनुक्रमणिका

भूमिका i-ii

प्रथम अध्याय 1—34

(क) जन्म स्थान तथा जन्म तिथि
(ख) वंश वृक्ष और वंश परिचय
(ग) बचपन
(घ) कला क्षेत्र में प्रवेश
(ड.) रचनाएँ
(च) मृत्यु
(छ) विदेसिया
(ज) भाई विरोध
(झ) विधवा विलाप
(ञ) कलयुग प्रेम
(ट) राधेश्याम बहार
(ठ) बेटी वियोग
(ड) गंगा स्नान
(ढ) गबरधिचोर
(ण) पुत्र वध
(त) ननद—भऊजाई

द्वितीय अध्याय 35—68

ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष,
सूत्रधार का रचनाकाल, कथ्य और रचना प्रक्रिया

(क) सामाजिक पक्ष
(अ) संयुक्त परिवार
(ब) संयुक्त परिवार में नारी की स्थिति
(स) नारी जीवन से संबंधित अन्य समस्याएँ
(क) दहेज की समस्या
(ख) अनमेल विवाह
(ग) परस्त्रीगामिता
(घ) विधवाओं की स्थिति
(द) संयुक्त परिवार का विघटन

(ध) नशाखोरी और वेश्यावृत्ति
(ख) राजनैतिक पक्ष
(अ) जमींदारी प्रथा
(ब) प्रतिभा की उपेक्षा
(स) साहित्यिक राजनीति
(ग) संस्कृतिक पक्ष
(अ) लोक संस्कृति
(ब) लोक भाषा
(स) धार्मिक पाखंड
(द) रहन–सहन तथा जीवन स्तर

तृतीय अध्याय 69–95

ग्रामीण जीवन की विसंगतियाँ और 'सूत्रधार'

(क) भौगोलिक स्थिति
(ख) निम्नवर्ग की स्थिति
(ग) सामाजिक समस्याएँ
(घ) अशिक्षा
(ड.) अंधविश्वास
(च) गरीबी और गाँव से पलायन
(छ) कला की उपेक्षा
(ज) जीवन में रस का संचार
(झ) नई पुरानी पीढ़ी का द्वन्द्व
(ञ) महत्वहीन स्वतंत्रता

उपसंहार 96–98

संदर्भ सूची 99–104

पत्र–पत्रिकाएं
विशेष आभार

भूमिका

लोक कलाकारों ने भारतीय संस्कृति के विविध रंगों को अभी भी जिंदा रखा हुआ है। इन्हीं लोक कलाकारों ने अपने–अपने अंचलों की संस्कृति बनाई, जन-जीवन में विभिन्न रसों का संचार किया। ऐसे ही कलाकारों में एक थे भिखारी ठाकुर, जिन्होंने भोजपुरी में नाटक लिखे, नाट्य–मंडली बनायी, नाटक खेले, अभिनय किया और अपने समय के जीवन में रस का संचार किया। इन्हें संस्कृति कर्मी का नाम दिया जा सकता है। तत्कालीन समाज में इनकी इज्जत नहीं के बराबर थी। निम्नवर्गीय (नाई जाति) के जन्म लेने के कारण वे जाति दंश से आहत होते रहे। सामंती व्यवस्था में कला और कलाकार की उपेक्षा को भिखारी ठाकुर ने झेला था। नृत्य को कला की कोटि में रखा ही नहीं जाता था, यह शादी-ब्याह के अवसर पर ही आयोजित करवाया जाता था। संजीव का उपन्यास 'सूत्रधार' भिखारी ठाकुर पर केंद्रित है। भिखारी ठाकुर जी की नृत्य मंडली में दलित, पिछड़े और इक्के–दुक्के उच्च वर्ग के लोग शामिल थे। यह वर्ग उपेक्षित तथा घृणा का पात्र समझा जाता था। बचपन में गाँव में दीपावली के समय मैंने लवंड़ों का नाच (भोजपुरी क्षेत्रों में नृत्य का वह रूप जिसमें पुरुष–खास तौर से किशारों और युवा-स्त्री के वेश में नृत्य करते हैं) देखा था और उनकी कला से प्रभावित हुई थी। इन लोक कलाकारों के साथ बचपन से ही मेरी संवेदना और सहानुभूति रही है। मैंने इनके जीवन को करीब से देखा और समझा है। इनकी दशा–दुर्दशा ने मुझे काफी प्रभावित किया है। वैसे, हिंदी उपन्यास साहित्य में लोक कलाकारों का स्थान कम से कम रहा है। उपन्यासकारों ने समाज की तरह साहित्य से भी इन्हें बहिष्कृत सा कर दिया है। जितना लिखा गया है, वह बहुत थोड़ा है। लोक कलाकारों पर शोध कम से कम हुआ है। मैंने एक तो रुचि, दूसरे संवेदना और सहानुभूति के कारण लोक कलाकार भिखारी ठाकुर पर शोध कार्य करना पसंद किया और श्रद्धेय गुरुदेव डा. ओम प्रकाश सिंह ने इस पर हामी भर दी। अंततः उक्त विषय पर कार्य करना तय हो गया।

मेरे इस लघु शोध प्रबंध में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भिखारी ठाकुर की जीवनी, कला, रचनाएं तथा मृत्यु पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में मैंने 'सूत्रधार' और ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों का विवरण दिया है। तीसरे

अध्याय में ग्रामीण जीवन में व्याप्त विसंगतियों को 'सूत्राधार' के संदर्भ में देखकर विश्लेषित किया है। अंत में उपसंहार है।

अपने शोध निर्देशक डॉ. ओम प्रकाश सिंह की हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपना कुशल निर्देशन दिया। वे शुरू से ही विषय के व्यापक अध्ययन और लगन से काम करने के लिए मुझे प्रेरित करते रहे हैं। उनके कुशल निर्देशन, पितातुल्य व्यवहार में मुझे काम करना अच्छा लगा। वैसे भी, उनके निर्देशन में काम करना अपने लिए सौभाग्य की बात समझती हूँ।

अध्ययन के दौरान मुझे मेरे पति श्री इंद्रदेव कुमार, भईया गौतम कुमार गुँजन और पिता श्री प्रियरंजन कुमार का सकारात्मक सहयोग प्राप्त हुआ है। लीजेंड बन चुके भिखारी ठाकुर को फिर से जीवित करना मुश्किल काम था अतः एक–दो स्थानों पर सामग्री को सुलभ होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। सामग्री संकलन के लिए मेरे पिता और भईया को पटना में कई जगहों पर दौड़ना पड़ा। मेरे मित्रों ने समय–समय पर अपना भरपूर सहयोग दिया। इनमें विपिन कुमार शर्मा, भरत कुमार, राजीव रंजन गिरि, संगीता वर्मा, प्रियंका कुमारी, जयप्रकाश सागर, राजशेखर, मुन्नी चौधरी, सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। मैं इन सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ।

मैं संस्थानों में जवारलाल नेहरु विश्वविद्यालय ग्रंथालय, हिंदी साहित्य अकादमी ग्रंथालय, संगीत नाटक अकादमी ग्रंथालय, पटना विश्वविद्यालय ग्रंथालय, भिखारी ठाकुर शोध संस्थान कुतुबपुर, भिखारी ठाकुर के परिवार के सदस्यों, पड़ोसियों, श्री रामदास राही, भगवती प्रसाद द्विवेदी और डा. दयानंद प्रसाद 'बटोही' की तहे दिल से शुक्रगुज़ार हूँ। इन संस्थानों और लोगों से मैंने शोध सामग्री प्राप्त की है।

विक्रम जी ने कम समय में शोध प्रबंध का टंकण करके अपना पूर्ण सहयोग दिया है।

अंत में मम्मी, पिताजी और परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति आभार के क्या शब्द कहूँ समझ में नहीं आता। उनके प्रेम, समर्थन और भावनात्मक सहयोग से ही मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली है।

उर्वशी गहलौत

प्रथम अध्याय

(क) जन्म स्थान तथा जन्म तिथि

(ख) वंश वृक्ष और वंश परिचय

(ग) बचपन

(घ) कला क्षेत्र में प्रवेश

(ड.) रचनाएँ

(च) मृत्यु

(छ) विदेसिया

(ज) भाई विरोध

(झ) विधवा विलाप

(ञ) कलयुग प्रेम

(ट) राधेश्याम बहार

(ठ) बेटी वियोग

(ड) गंगा स्नान

(ढ) गबरधिचोर

(ण) पुत्र वध

(त) ननद–भऊजाई

जन्म स्थान तथा जन्म तिथि

भोजपुरी क्षेत्र के 'शेक्सपीयर' कहे जानेवाले भिखारी ठाकुर का जन्म बिहार के कुतुबपुर गाँव में 1887 में हुआ था। यह गाँव सरयू गंगा और सोन नदियों के मुहाने से लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पर बसा हुआ है। यह गाँव पहले आरा जिले में स्थित था, परंतु बाढ़ की तबाही से गाँव के निवासी छपरा जिले में बस गए। अब गाँव वालों के खेत–खलिहान तो 'आरा' जिले में है पर घर–मकान छपरा जिलों में। अपने जन्म–समय और जन्म–स्थान का संकेत करते हुए भिखारी ठाकुर ने लिखा है –

"हमारा घर पहले आरा जिला में रहल हा, श्री गंगा जी से दह के, हिंदी साल 1294 का भादों में समूचा बस्ती दियरा में बस गइल। हिंदी साल 1395 का पूस सूदी पंचमी के हमार जन्म भइल। हमार पूरा–पूरा जीवन चरित भिखारी हरिकीर्तन किताब का अंत पन्न में छपल बा। अबहीं हमार जाति क राजा, दिवान, नाता, गुरु–पुरोहित आरा जिला में बा लोग। हमार बस्ती छपरा जिला, बस्ती भर के खेत–बघार आरा जिला में बा।"[1]

भिखारी ठाकुर के जन्मकाल और स्थान के संबंध में भगवती प्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है। वे मानते हैं कि भिखारी ठाकुर का जन्म पौष मास शुक्ल पंचमी सन् 1887 में कुतुबपुर गाँव में हुआ था। भिखारी ठाकुर के जन्म के समय बाढ़ की विभीषिका छाई हुई थी।

संजीव ने भिखारी ठाकुर के जन्मकाल का उल्लेख किया है। वे उनका जन्मदिन पूस महीने में सोमवार को स्वीकार करते हैं। संजीव ने भिखारी ठाकुर के जन्म की तिथि या तारीख का उल्लेख नहीं किया है। भिखारी ठाकुर के जन्म से कुछ महीने पहले आई बाढ़ का उन्होंने विस्तृत वर्णन किया है। इस बाढ़ से जन–जीवन तबाह हो गया था। लोगों के घर मकान गिर गए थे। बाढ़ समाप्त हो जाने पर तबाह घरों का पुनर्निमाण हो रहा था। पुरानी दीवारें भरभरा का गिर रही थीं तो नई दीवारें सर उठा रही थीं। प्राकृतिक आपदा से जीवन की जद्दोजहद

जारी थी। समय के प्रवाह में धीरे–धीरे जन–जीवन अपने ढर्रे पर वापस आने लगा था।

वर्तमान समय में भिखारी ठाकुर के सगे–संबंधी आरा जिले में हैं। भिखारी ठाकुर को अपनी जननी और जन्मभूमि पर गर्व था। वे जन्मभूमि और उसके आस–पास के क्षेत्रों की प्रशंसा करते नहीं अघाते। अपने आस–पास के क्षेत्रों का पौराणिक महत्व बतलाने के साथ–साथ उन्होंने उन क्षेत्रों के ऐतिहासिक महत्व का भी गुणगान किया है। यथा –

"हरि के बस्ती नइखे दूर, जिला छपरा के सोनपुर"
"हर के घर हऊए कसमर, गंगा गंडक के संगम पर"
"छप्पर सहर दहियावां में रहत दधीचिवीर
लेकर हाड़ धनुष बनल भइल जनकपुर मीर"
"राम बाण के संत निसंका
आरा आर–पार गढ़ लंका"
"बलिया बरियारी से नाम
मालूम होता कहत तमाम"[2]

भिखारी ठाकुर के रोम–रोम में भोजपुरी लोकमानस रचा–बसा था। मिट्टी की गंध तथा रस से सने कलाकार का जन्मभूमि और उसके आस–पास के क्षेत्रों का बखान करना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

वंशवृक्ष और वंश परिचय :

भिखारी ठाकुर का जन्म नाई वंश में हुआ था। उनके दादा का नाम रमई ठाकुर तथा भिखारी ठाकुर पिता का नाम दलसिंगार ठाकुर था। वे वंशानुगत पेशे से ही आजीविका चलाते थे। अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में भिखारी ठाकुर भी इस पेशे से जुड़े रहे पर साथ–ही–साथ वे तुकबंदी भी किया करते थे। धीरे–धीरे वंशानुगत पेशे से उनका ध्यान उचटने लगा और कविताई तथा गवनई में उन्हें रस मिलने लगा। इसी कविताई और गवनई ने उन्हें नई राह दिखाई। अपने बूते पर उन्होंने नाचदल का संगठन किया और आजीवन इसी कार्य में संलग्न रहे।

भिखारी ठाकुर के बाद उनके भतीजे गौरीशंकर ने नाचदल का संचालन संभाला परंतु उनके पुत्र शिलानाथ ने गाँव में ही रहकर कृषि का कार्य संभाला। शिलानाथ के जिम्मे कुल 38 बीघा जमीन थी जिसमें से 24 बीघा जमीन गंगा और गंडक में बाढ़ के कारण गायब हो चुकी थी। बाद में अधिक उम्र हो जाने पर शिलानाथ से खेती नहीं हो पाती थी। शिलानाथ के दोनों पुत्र राजेंद्र और हीरा ठाकुर छपरा तथा नरकटियागंज में काम करते थे। शिलानाथ के तृतीय पुत्र दिनकर अपनी नई स्थापित नृत्य मंडली का संचालन करते थे। 1985 में दिनकर ठाकुर की भी मौत हो गई। दिनकर की मृत्यु के बाद नाचदल के संचालन का भार शिलानाथ ने उठाया, किंतु न तो नाच्दल पूरे साल चलता था और न ही पर्याप्त आय हो पाती थी। सन् 2001 में शिलानाथ की भी मृत्यु हो गई। अब कुल मिलाकर विदेसिया के नाम से पाँच नाच दल रह गए हैं। संजीव ने इन पाँचों दलों का उल्लेख किया है।

वंशवृक्ष :

भिखारी ठाकुर के वंश वृक्ष को नीचे तालिकाबद्ध किया जा रहा है –

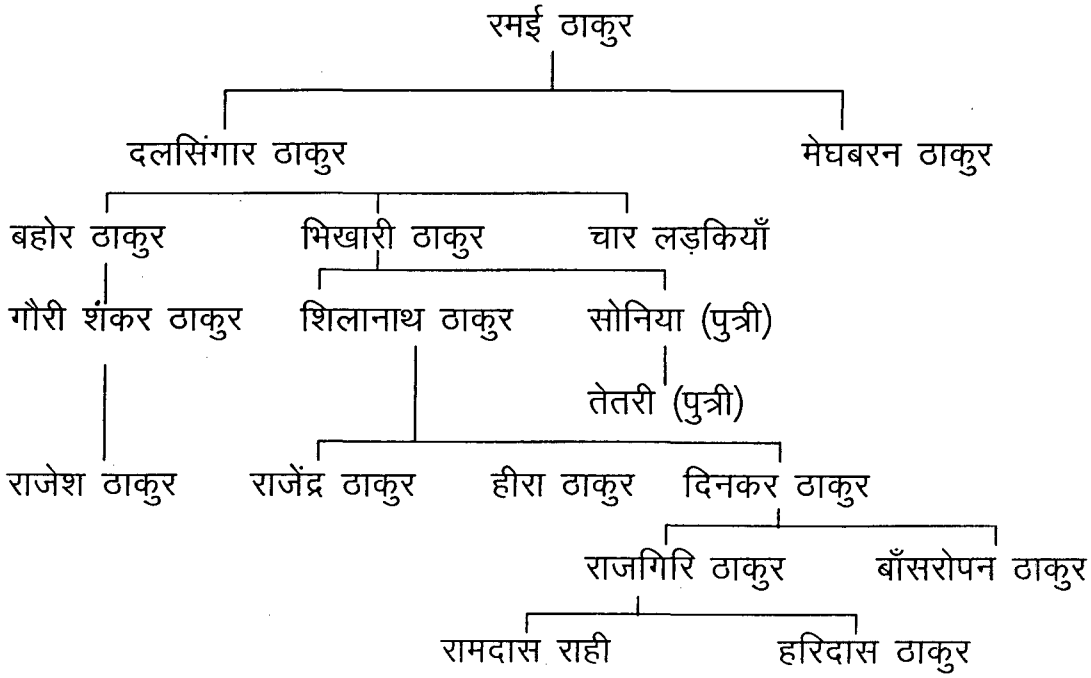

(यह वंश वृक्ष 'रामदास राही' जी से फोन पर हुई बातचीत के आधार पर तैयार किया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों से पता चलता है कि भिखारी ठाकुर की वंश परंपरा में शिक्षित लोगों की कमी थी। इनके जीवन–यापन का एकमात्र आधार खेती करना, हजामत बनाना तथा चिट्ठी–पत्री पहुँचाना था। वैसे भिखारी ठाकुर ने अपने परिवार में गोपालन का भी जिक्र किया है –

"गईया चार रही घर माहीं

तिन्ह के नित्य चरावन जाहीं"[3]

बचपन :

लोक नाटक की परंपरा में अपनी विशिष्ट पहचान बनानेवाले भिखारी ठाकुर का बचपन खेलने–कूदने, नकल उतारने और गाय चराने में व्यतीत हुआ। उनका निम्नवर्गीय परिवार में जन्म लेना भी शिक्षा के प्रति उनकी उदासीनता का कारण बना। आर्थिक बदहाली को झेलता उनका परिवार उनकी शिक्षा के प्रति उदासीन रहा। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि परिवार का हर सदस्य जितनी जल्दी कमाने लायक हो जाए इसकी चिंता सदस्यों को ज्यादा थी। उन दिनों पढ़ाई से ज्यादा काम (पेशा) को महत्ता दी जाती थी। एक तरफ तो आर्थिक तंगी और दूसरी तरफ नाई जाति में जन्म लेना, दोनों ही एक से बढ़कर एक समस्या साबित हुई। जन्म के बाद नाम दिया गया 'भिखरिया'। कारण! अच्छे नाम तो ऊँची जातिवालों को शोभा देते हैं। नामों का बिगड़ जाना अस्वाभाविक नहीं था, क्योंकि वे जिन आर्थिक विपन्नताओं और सामाजिक विषमता में पैदा हुए थे, उसकी नियति ऐसी ही होनी थी। जहाँ व्यक्ति की पहचान उसके कर्मों से नहीं जाति से होती हो, वहाँ भिखारी ठाकुर के लिए विद्यारंभ करने में कठिनाइयाँ तो आनी ही थीं। 'सूत्रधार' में इस जातिगत विषमता को सूक्ष्मता से अंकित किया गया है। जब शिक्षा देनेवाले गुरुजी ही अपने छात्रों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार करें तो समाज के उच्च वर्ग के बच्चे कैसे पीछे रहते। भिखारी ठाकुर का बालमन 'टहुलई' और परतंत्रता को स्वीकार न कर सका। अतः प्रारंभिक अवस्था में यही उनकी शिक्षा के प्रति उदासीनता का कारण बना। नौ वर्ष की अवस्था में उनकी 'खली छुआई' या विद्यारंभ संस्कार कराया गया। तख़्ती लेकर एक वर्ष तक विद्यालय आने–जाने का क्रम बना रहा, किंतु उन्हें अक्षरों की दुनिया नहीं भायी। गुरुजी की मुफ्त टहुलाई

करते–करते समय बीतता गया परंतु 'रामगति देहुँ सुमति' तक लिखना न जान सके। इस सत्य की जानकारी होने पर पिता ने पढ़ाई छुड़ा कर भिखारी ठाकुर को गायों के पीछे लगा दिया। गाय चराने में भिखारी ठाकुर का मन रमता गया। अब न तो विद्यालय का प्रतिकूल माहौल था, न ही कोई दबाव; गंगा दर्शन के साथ–साथ वन–वन भटकने में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता को महसूस किया। इस बीच उनका विवाह मानपुरा गाँव में कर दिया गया। 'दुलहिन' नामक गठरी का रहस्य जानने के लिए वे आतुर रहा करते थे। कच्ची उम्र में यौन संबंधों की जानकारी न के बराबर थी और 'दुलहिन' नामक गठरी का तिलिस्म उन पर हावी हो जाया करता था। गाय चराते वक्त खाली समय का उपयोग होता गीत–गवनई में, रसिकता में बहकर गमछे का घूँघट बनाकर ठुमके लगाने में और तरह–तरह की गप्पों में।

कला क्षेत्र में प्रवेश :

पहले कहा जा चुका है कि भिखारी ठाकुर की विधिवत शिक्षा नहीं हुई थी। शिक्षा के अभाव में उनका मन रामचरितमानस की ओर आकर्षित हुआ। सत्संग में जाना उनकी प्रिय आदत थी। उनका मन लगातार मंथन करता रहता, बार–बार कुछ सिरजने को आतुर रहता किंतु मन मार कर बैठने के सिवा कोई चारा नहीं था। अशिक्षा का डंक लगातार सालता रहता। अंततः मन पढ़ाई की ओर आकर्षित हुआ। किसी प्रकार अपने मित्र 'भगवान साहु' की सहायता से अक्षरों को जोड़–तोड़कर पढ़ना उन्होंने सीख लिया। इस संदर्भ में उन्होंने बक़लाम खुद लिखा –

"एक बनिये का लड़का जिसका नाम भगवान था, उन्हीं से हमने कहा कि हमको पढ़ा दीजिए, तब उन्होंने हमको पढ़ा दिया। थोड़े ही समय में लिखने–पढ़ने की समझ आ गयी। रामायण की कथा में हमारा मन बहुत लगता था।"[4]

लगन और ज्ञानार्जन की कामना ने भिखारी ठाकुर को अल्प समय में ही अक्षर ज्ञान करा दिया। संजीव ने अपने उपन्यास में इस तथ्य को बखूबी पकड़ा है और रोचक तरीके से प्रस्तुत किया है। अपने वंशानुगत पेशे में भिखारी ठाकुर को जातिदंश का जहर हर कदम पर झेलना पड़ा। खेत–खलिहान में काम करने के

अलावा वे उस समय के प्रचलन के अनुसार विभिन्न सामाजिक संस्कारों में अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे। दूर–दराज के गाँवों तक न्यौता पहुँचाना और कुत्ते की तरह दुत्कारा जाना उन्हें भीतर तक हिला जाता। तीस वर्ष की उम्र तक अपमान की पीड़ा में तड़पते हुए वंशानुगत पेशे को भिखारी ठाकुर अंजाम देते रहे। इसी सिलसिले में उन्हें समाज के सभी वर्गों के बाहरी–भीतरी उलझाव को देखने–परखने का अवसर मिला। कम उम्र में गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के कारण परिवार की जिम्मेदारियों का दायित्व उन्हें उठाना पड़ा। परंपरागत यजमानी के धंधे से होनेवाली आय जीवन निर्वाह के लिए अपर्याप्त थी, परिणामस्वरूप रोजी–रोटी की तलाश भिखारी ठाकुर को प्रवास के लिए उकसाने लगी। 'सूत्रधार' में यह वर्णित है कि 1941 में जबरदस्त सूखे और अकाल की चपेट में भारत पूरी तरह से आ गया था। साम्राज्यवादी सरकार ने शोषण की गति और तेज कर दी थी। लोग दाने–दाने को तरसने लगे थे। किसानों से जबरदस्ती लगान वसूली की जा रही थी। प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव भारतीय जनता पर पड़ रहा था। अंग्रेजों की शोषण प्रक्रिया असहनीय हो गयी थी। एक तरफ तो अकाल की मार, दूसरी तरफ लड़ाई और तीसरी तरफ लगान की मार ने भारतीय किसानों की कमर तोड़ दी । किसानों पर इस तिहरी मार का असर यह हुआ कि लोग भूखों मरने लगे। ऐसे में नाई जाति जो टहुलई करके जीवन–यापन करती थी उसकी स्थिति और भी बद्तर हो गई। जब गृहस्थ किसान की अवस्था ही दयनीय हो तो नाई जैसे छुरा चलानेवाली जाति को कौन पूछे? भिखारी ठाकुर 27 वर्ष के हो चले थे और पारिवारिक जिम्मेदारियों के निर्वहन में असमर्थ थे। पैसा और इंसान के बीच छिड़े द्वन्द्व में इंसान हारता चला जा रहा था। इसी पैसे की चाह भिखारी ठाकुर को खड़गपुर तक खींच लाई। वहाँ श्रम के बदले नकद पैसे मिलते थे और जाति दंश का जहर कम सालता था। शुरुआत में खड़गपुर में भी इनका विरोध अपनी ही जाति और पेशे वाले व्यक्तियों से हुआ। इस नए नाई के आने पर सबको अपने धंधे के ऊपर खतरा महसूस होने लगा। इंसान ही इंसान की तरक्की नहीं देखना चाहता। उनके 'पुलिस फूफा जी' की कृपा से नाई जाति की पांत में उन्होंने स्वयं को स्थापित किया। धीरे–धीरे अन्य नाइयों का मलाल जाता रहा। अपने जातिगत पेशे से उन्होंने आजीविका अर्जित की और बचे हुए पैसे घर भेजने लगे।

इसी क्रम में भिखारी ठाकुर को मेदिनीपुर जाने का मौका मिला। वहाँ रामलीला, रासलीला और जात्रा देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि आगे चलकर यही सब उनकी संपूर्ण जिंदगी की पृष्ठभूमि बनी। उन्होंने गाँव लौटने का निश्चय किया और लौट कर नए सिरे से अपनी शुरूआत की। कला जीवन में प्रवेश करने के पहले उन्होंने जगन्नाथपुरी, खड़गपुर, कलकत्ता और मेदिनीपुर जैसे स्थानों की यात्राएँ की थी जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है –

"गइली मेदनीपुर के जिला

तोही जे देखलीं राम लीला।"[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि भिखारी ठाकुर ने कला जीवन की प्रेरणा रामचरितमानस से ही ग्रहण की थी। मानस के प्रति उनका लगाव बचपन से ही था। रामलीला की झांकी में कई बार वे सीता भी बने थे। विभिन्न स्थानों की यात्रा (तीर्थ) पूर्ण करने के बाद उनकी सोच में परिवर्तन आया। इन दिनों वे आत्मविश्लेषण करते हुए समाज की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार कर रहे थे। अंतर्मन में ईश्वरोपासना का बीजारोपण तो पहले हो ही चुका था। गाँव के ही उच्च जाति के कुछ सहृदय मित्रों की सहायता से उन्होंने रामलीला पार्टी बनाई। परंतु इतने से उनका मन नहीं भरा, वह तो किसी और ही रौ में बहे जा रहे थे। आगे चलकर लोक के रंग में रंगते हुए नाच पार्टी की स्थापना की। गाँव के ही पिछड़े वर्ग से नाचने–गाने वाले तथा रूप बनाने जैसे कलात्मक रुझान वाले नए लोगों को खोजकर, जोड़–तान कर नाच गिरोह की स्थापना की। उनके इस कार्य में दूर के समधी बाबूलाल ने अपना पूर्ण योगदान दिया। 'सूत्रधार' में यह दिखलाया गया है कि नाच मंडली के कारण उनका पूरा परिवार और समाज उन्हें शंका की दृष्टि से देखता था। वे अपनी पीड़ा को अपने अंदर ही अंदर झेलते रहे। संजीव ने लिखा है –

"मुझे कोई नहीं समझना चाहता, कोई नहीं। नाच गिरोह जो चल रहे हैं, चाहे तो रंडी पतुरिया के हों या लवंड़ों के सब मुझे छिछोरे लगते हैं। वे मुझे अपने जैसा बनाना चाहते हैं। उनकी छूत के डर से भागकर मैंने नया दल बनाया। इधर

घर के लोग बाबू, भाई, काका, काकी मेरे नाम को रो रहे हैं कि मैं वही हो गया अब, कुल–खानदान की नाम कटवा दी मैंने। न वो मुझे समझ पा रहे हैं, न ये।"[6]

संजीव ने भिखारी ठाकुर के जीवन के तमाम पहलुओं को सूक्ष्मता से पकड़ा है। जाति–व्यवस्था और पारिवारिक मर्यादाओं की जंजीरों में जकड़ा एक व्यक्ति किस प्रकार नाच जैसे घृणित पेशे को अपनाता है, यह विचारणीय प्रश्न है। अपनी जातिगत स्थिति से भी दो कदम नीचे उतरने का साहस यह दिखलाता है कि अपने मन की कशमकश को दूर करने के लिए अपनी पीड़ा का आवलंबन ढूँढ़ने के लिए ही भिखारी ठाकुर को यह कदम उठाना पड़ा। उनके लिए नृत्य दल के संचालन का उद्देश्य मात्र मनोरंजन न था। वे नृत्य दल के माध्यम से अपनी बात समाज के जन–जन तक पहुँचाना चाहते थे। अपने ऊपर लादे गए पारिवारिक और सामाजिक बंधनों की परिधि तोड़कर वे बाहर आते हैं। जैसा अनुभव, वैसी ही रचनाएँ। अपने लेखकीय कर्म के लिए वस्तु–संग्रह किया तो केवल समाज से। कल्पना–प्रसूत साहित्य की रचना उन्होंने नहीं की। अगर ध्यान दिया जाय, तो उनकी रचनाओं में उनके विद्रोही मन की अभिव्यक्ति, अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। उनकी रचनाओं में कई स्थल ऐसे आए हैं जिनमें उनकी अनुभूति कड़वाहटें, व्यंग्य तथा गीतों में संक्रमित हो गयी है। उनका सारा कृतित्व समाज की समस्याओं के आस–पास खड़ा मिलता है। उनके सभी नाटक संस्कृति और मनुष्य के सकारात्मक प्रसार के लिए जद्दोजहद करते हैं। सामाजिक समस्याओं को पृष्ठभूमि बनाकर लोगों को सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। उनकी रचनाओं में विरोध का स्वर कहीं–कहीं पैना है तो कहीं–कहीं हास्य व्यंग्य की ओट से मुखर हुआ है। समस्याओं पर नाटक लिखते हुए वे अपने मानवतावादी उद्देश्य से न विचलित होते हैं, न ही पराङ्मुख। भिखारी ठाकुर एक आध्यात्मिक विचार संपन्न व्यक्ति थे। वे अपनी प्रत्येक रचना का आरंभ मंगलाचरण से करते हैं। सामाजिक समस्याओं में गहरे पैठते हुए उन्होंने दृश्य और मनोरंजन की दो भिन्न सारणियों को मिलाकर एक कर दिया। भिखारी ठाकुर के पात्र सहज और स्वाभाविक ही नहीं लगते बल्कि हमारे बहुत निकट भी लगते हैं। वर्णित पात्रों के अंतर्संबंधों को लेकर वे पर्याप्त सजग दिखाई देते हैं – शायद इसी कारण

सामाजिक समस्याओं को वे इतने सहज एवं प्रभावात्मक रूप में प्रस्तुत कर पाने में सफल हुए हैं। कृति के मूल्यांकन की कसौटी यही है कि कृतिकार सामाजिक जीवन के प्रति कितना जागरूक है, उसके प्रति कैसी आलोचनात्मक दृष्टि रखता है और अपने उद्देश्य में वह कहाँ तक सफल हुआ है। इस कसौटी पर भिखारी ठाकुर खरे उतरते हैं। उन्होंने समाज के ताने–बाने को गहराई से समझा है तथा सामाजिक समस्याओं के कारण, स्वरूप तथा परिणामों की अपने ढंग से व्याख्या की है।

भिखारी ठाकुर के नाटकों में युग और समाज का प्रतिनिधित्व समग्रता में परिस्फुट हुआ है। वे जनवादी नाटककार थे। तत्कालीन समाज की सभी समस्याओं पर उनका विशेष जोर है। जनता के जीवन और समस्याओं की गाथा उनके नाटकों में जितनी जीवंतता और मनोरंजकता के साथ उभरी है, वैसी शायद ही किसी अन्य नाटककार की रचनाओं में उभरी हो। अपने समय और भोजपुरी प्रदेश से सीमित कथ्य को लेकर विरचित उनकी रचनाओं में मानव जीवन का सच्चा स्वर मुखरित हुआ है।

भिखारी ठाकुर अपनी लोकप्रियता का एकमात्र कारण ईश्वर की कृपा मानते थे। उन्होंने लिखा है –

"साधु पंडित के ढींग जाहीं

सुनि श्लोक घोखी मनमाही।"[7]

भिखारी ठाकुर मृत्युपर्यंत अपनी लोककला को सजाने–सँवारने में लगे रहे। मानव मन की सहज प्रवृत्ति होती है कि अंर्तमन में पले हुए बीज रूपी विचारों को वह यथासमय अपने तरीके से प्रकट करता चलता है, चाहे माध्यम कुछ भी हो। भिखारी ठाकुर के साथ भी यह बात शत–प्रतिशत लागू होती है। उनके मन में पलते विचार उनकी प्रतिभा के साथ–साथ परवान चढ़ते गए। धीरे–धीरे उनके तमाशों का जादू जनता के सिर चढ़कर बोलने लगा।

मनुष्य समाज का अनिवार्य अंग होता है। वह किसी न किसी रूप में समाज के प्रति उत्तरदायी भी होता है। भिखारी ठाकुर ने जिस कड़वे सत्य को

(समाज के) देखा, महसूस किया और झेला उसे ही अपने रचनाओं की कथावस्तु के रूप में अपनाया। उनके समय का समाज आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं से भरा हुआ था। भिखारी ठाकुर को नान्ह (नीची) जाति का व्यक्ति कहकर दुत्कारा जाता था लेकिन वे अस्पृश्य नहीं थे। समाज के निचले पायदान की जातियों से एक–दो–कदम ऊपर थे। उनका छुआ पानी चलता था। जीवन से मृत्यु तक होनेवाले कई संस्कारों में उनका महत्व पंडितों से भी ज्यादा था किंतु जातिगत विषमता और रूढ़ियों के कारण अपने श्रम का न उन्हें उचित पारिश्रमिक मिलता था, न उचित सम्मान।

उनकी पहुँच समाज के उच्च तथा निम्न दोनों ही वर्गों में अंदर–बाहर तक थी। निम्न जाति में जन्म लेने या यों कहें कि सामंती व्यवस्था के कारण, उन्हें उच्च वर्ग के कुछ लोगों से निंदा और उपेक्षा मिली तो उच्चवर्ग के ही सहृदय और उदार लोगों का संरक्षण भी मिला। रामध्यान सिंह, रामानंद सिंह, मिर्चइया बाबा, भगवान साहु आदि उच्च वर्ग के लोगों ने भिखारी की प्रतिभा का सम्मान किया। जिस समाज की जड़ता के खिलाफ उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की और अपनी सारी शक्ति लगाई, वही समाज उनका विरोधी रहा। वे अपने घर में ही पिता और पत्नी की नजरों में अपराधी थे। समाज ने उन्हें नचनिए की पदवी दी। भिखारी ने इन सबको सर आँखों पर लिया।

भिखारी ठाकुर की पूर्ण सहानुभूति मुँह दूबर और दयनीय लोगों के साथ थी, तभी लाख कहने पर भी उनकी कलम, 'कुँवर सिंह' के चरित के ऊपर न चली। उच्च वर्ग के चरित्रों से वे स्वयं को कहीं जोड़ नहीं पाते थे। दलित और शोषित वर्गों के ऊपर होने वाला अत्याचार उनके हृदय को बेधता था। उसी की प्रतिक्रिया उनके नाटकों में व्यंग्य के माध्यम से प्रकट होती है। उनकी समस्त रचनाओं में व्यंग्य का यह स्वर मुखरित हुआ है। वे अपने पात्रों को दिशा निर्देश देकर समस्याओं का निराकरण दर्शकों पर छोड़ देते हैं ताकि दर्शक खुद ही अपने विवेक से निराकरण का संभावित मार्ग ढूँढ़ लें।

भिखारी ठाकुर को तत्कालीन सामाजिक जीवन में पैठने और उसकी अभिव्यक्ति में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आयी। घर–घर की क्या स्थिति थी,

इसे उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। उसी सत्य की पृष्ठभूमि में तमाम समस्याओं को भिखारी ठाकुर मंच तक ले आए, जो उनके अदम्य साहस का परिचायक था। समाज के धार्मिक और सामाजिक समस्याओं को नाटकीय संवाद और गीतों में पिरो कर उन्होंने इस तरह पेश किया कि लोगों को सोचने पर मजबूर होना पड़ा। नाच गिरोह को तमाशे और नृत्य का रियाज करवाकर उन्होंने दूर–दराज के गाँवों में अपनी मंडली के साथ घूम–घूम कर उनका प्रदर्शन किया। अपने गीतों के माध्यम से, अपने सजीव अभिनय के माध्यम से उन्होंने सामाजिक समस्याओं को जनता के सामने खोलकर रख दिया। हास्य–व्यंग्य और गीतों–संवादों के साथ लपेट कर उन्होंने ऐसा 'तमाशा' प्रस्तुत किया कि समस्याएँ असली रूप में सामने आ गईं और मनोरंजन में भी कमी नहीं आई। लेकिन भिखारी ठाकुर ने कभी भी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं किया। इस सशक्त माध्यम के द्वारा उन्होंने आम जनता में अपनी प्रगतिशील विचारधारा को फैलाया। भिखारी ठाकुर का जन्म समाज के पिछड़े वर्ग में हुआ था, ऊपर से उन्होंने नाच जैसे घृणित (उस समय के अनुसार) पेशे को अपनाया, जिनके कारण उन्हें हर तरफ से अपमान मिला और अवमानना सहनी पड़ी।

शादी–विवाह, छठी आदि संस्कारों के शुभ अवसर पर भिखारी ठाकुर के नाटकों का प्रदर्शन होता था जिसमें दूर–दराज के (बीस–बीस किलोमीटर तक के) लोग पैदल या सवारी से चलकर पहुँचते थे। किसी शामियाने या ऊँची जगह पर मंच बनता था जिसके चारों तरफ देखनेवाले लोग दूर–दूर तक खुले मैदान में बैठकर देखते थे। दस–बीस, पचास हजार की भीड़ बिना कानून व्यवस्था के शांति से नृत्य देखा करती थी। उनके नाटक 'विदेसिया' ने तो धूम मचा दी थी।

रचनाएँ :

पहले कहा जा चुका है कि भिखारी ठाकुर बहुत पढ़े–लिखे नहीं थे। गद्य या पद्य में रचना कैसे की जाती है, न तो उन्हें उसकी शास्त्रीय जानकारी थी और न ही भाषा पर पकड़। 'रामचरितमानस' उनका प्रेरणास्रोत था। साथ ही साथ उनके सामने थीं लोकधुनें, लोकभाषा–(बोली), समाज की समस्याएँ – इन्हीं सबको मिला–जुलाकर अपने नाटकों की उन्होंने रचना की। उनके पूरे कृतित्व पर नजर

डालें तो ऐसा लगता है कि उन्होंने संस्कारों, समस्याओं और उपेक्षित लोगों तथा नारी जीवन की समस्याओं को ही केंद्र में रखकर अपनी रचनाएँ की हैं। लोक जीवन के इस कुशल चितेरे ने भोजपुरी समाज के पिछड़ों और दलितों की पीर को और गाढ़ा कर दिया था। अपनी कला को कलम में समाहित कर सर्वप्रथम 'बिरहा बहार' की रचना की। उन्होंने स्वयं कहा है –

"बिरहा बहार प्रथम मैं गावा"

अतः यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनकी प्रथम कृति 'बिरहा बहार' ही है। एक बार उन्होंने लगन के दिनों में प्रेममयी भाव–भंगिमाओं से युक्त तथा उन्मादक गीतों से पूर्ण धोबी–धोबिन का नाच देखा था तथा प्रभावित हुए थे। 1915 के आस–पास उन्होंने बिरहा–बहार की रचना की। इसका सर्वप्रथम अभिनय 'मुजफ्फरपुर' जिले के 'सर्वमस्तपुर' ग्राम में हुआ। उसके बाद तो भिखारी ठाकुर की 'बिरहा–बहार' यानि विदेसिया लोक मंच पर छा गया। भोजपुरी रंग मंच जो उस समय अंतिम सांसे ले रहा था, उसको पुनर्जीवन मिला और भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में उनकी छवि उजागर होती गई। लगभग तीन दशक तक भिखारी ठाकुर भोजपुरी क्षेत्रों में अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे। उनके प्रमुख नाटक हैं – विदेसिया, भाई–विरोध, बेटी वियोग, कलयुग प्रेम, राधेश्याम बहार, गंगा–स्नान, विधवा विलाप, पुत्रवध, गबरधिचोर और ननद–भऊजाई आदि। ये सब उनके प्रमुख और प्रमाणिक नाटक हैं जो भिखारी ठाकुर ग्रंथावली में उल्लिखित हैं। इसके अलावा उनके गीतों का भी संकलन हुआ है। वैसे अपने संपूर्ण रचना–संसार का विवरण उन्होंने क्रमबद्ध रूप में लिखा है –

'बिरहा बहार' प्रथम मैं गावा। तब 'कलियुग बहार' सुधि–आवा।।

'राधेश्याम बहार' हो गइलन। 'बेटी वियोग' के चरचा भइलन।।

'कलियुग प्रेम' हो गइलन पाछे। 'गबरधिचोर' लगलन आछे।।

'भाई विरोध' शोध के गवलीं। सिरि 'गंगा अस्नान' बनवलीं।।

'पुत्र–वध' पुस्तक परचार। तजबीज करिह–ऽ नाई बहार।।

'ननद–भौजी' कर संवादू। भांड के नकल के बूझ सवादू।।

'बहरा बहार' के बरबस देख–ऽ। 'नवीन बिरहा' नीके परेख–ऽ।।

भइल भिखारी नाटक जारी। जे में नकल बा चारि प्रकारी।।

तब 'भिखारी शंका समाधान'। साथे–साथ कर सुनहु बखान।।

ओही अवसर भिखारी हरिकीर्तन। प्रेम लगाई कर करिह–ऽ निरंतन।।

जशोदा सखी संबाद सुहावन। तब भिखारी चौयुगी पावन।।

छपल भिखारी जय हिंद खबर। विकरा के नेग सराध में जबर।।

तब भिखारी पुस्तक सूची। खरिदनहार के जइसन रूची।।

पुनः भिखारी चउवरन पदवी। विधवा–विलाप के मनिह–ऽ अदबी।।

पद भिखारी भजनमाला। 'बूढ़साला' के छपल बा हाला।।

'रामनाम माला' पढ़ि लीजे। सीताराम से परिचय कीजे।।

'नव अवतार' कहाला नर के। एक आरती दुनिया भर के।।

मातु भक्ति श्री नाम रतन। जगह–जगह पर गान।।

सब पुस्तिका–समूह में, दीहल बा परमान।।[8]

'विदेसिया' शब्द का उच्चरण करते ही जिस व्यक्ति का चित्र उभरता है उसको भोजपुरी प्रदेश की जनता भिखारी ठाकुर के नाम से जानती है। इस नाम से लोक रंगकर्मी भिखारी ठाकुर की खून, पसीने और पीर से रची रचना का पूरा बिंब उभर आता है। दरअसल, आदिकाल से चली आ रही लोक नाटक की परंपरा को तत्कालीन पारिवारिक समस्याओं से जोड़कर भिखारी ठाकुर ने इतना लोकप्रिय बनाया कि उस शैली की हर मंडली और उनकी कृतियों को – भिखारी ठाकुर के सुप्रसिद्ध नाटक 'विदेसिया' के नाम पर – लोग विदेसिया कहने लगे। गरीबी, बेरोजगारी और धन के लोभ में गाँव से शहर की ओर पलायन करनेवाले व्यक्तियों की कहानी 'विदेसिया' में समाहित है। अपने घर–द्वार से दूर अपने परिवारवालों के बिछोह को उन्होंने स्वयं भी झेला था, महसूस किया था। व्यक्तिवादी व्यवस्था और

संयुक्त परिवार के टूटन को भिखारी ठाकुर ने अपनी आँखों से देखा था जिसकी झाँकी विदेसिया, भाई–विरोध, विधवा–विलाप आदि नाटकों में स्पष्ट मिलती है।

भिखारी ठाकुर 'विदेसिया' के सफल प्रदर्शन के बाद इतने लोकप्रिय हो गए कि दूर–दूर से नाट्य प्रदर्शन के लिए आमंत्रण आने लगे। यह उनकी लोकप्रियता और प्रसिद्धि का समय था जब देश ही नहीं विदेशों से भी बुलावा आया। भारत के बाहर मॉरिशस, केन्या, ब्रिटिश–गुयाना, सूरीनाम, मेडागास्कर, युगांडा, बर्मा, सिंगापुर, दक्षिण अफ्रीका, फिजी, ट्रिनिटाड तथा न्यूगीनि आदि दूरस्थ देशों में दो करोड़ से भी अधिक भोजपुरी प्रवासी हैं जिनके मध्य आज भी भिखारी ठाकुर के गीतों की पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

कला जीवन से संबंधित उनकी अंतिम यात्रा मुंबई की रही, जहाँ वे अकेले भोजपुरी फिल्म 'विदेसिया' के लिए फिल्म के प्रस्तोता के द्वारा बुलाए गए थे। फिल्म दुनिया के ठेकेदारों ने उनके साथ छल किया। जिससे वे भीतर तक टूट कर रह गए। इन परिस्थितियों को संजीव ने सूक्ष्मता से पकड़ा है तथा बेबाकी के साथ वर्णित किया है।

मृत्यु :

70 साल की अवस्था में उम्र के अंतिम पड़ाव को पार कर 10 जुलाई 1971 को भिखारी ठाकुर सदा के लिए सो गए। 30 दिसंबर 1990 को भारतीय दूरदर्शन पर भिखारी ठाकुर के नाटकों का मंचन कराया गया। इस मंचन के द्वारा उनकी महत्ता, उनकी कला को पुनः प्रतिपादित किया गया।

रचना रचनाकार की जमीन एवं वहाँ के परिवेश की पैदाइश होती है। भोजपुरी के 'शेक्सपीयर' कहे जानेवाले भिखारी ठाकुर ने अपने परिवेश के ताप को अपने भीतर इस कदर बटोरा कि उसकी हलचल न सिर्फ भारत में बल्कि दुनिया के उन कोनों तक पहुँचा दिया जहाँ–जहाँ हिंदी–भोजपुरी बोली समझी जाती थी। ग़ौरतलब है कि अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा देने वाले इस कलाकार ने अपने दौर के बड़े से बड़े रचनाकारों को सोचने और उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने पर मजबूर कर दिया। भिखारी ठाकुर की सृजनात्मकता में अगर इतनी ताकत न होती

तो राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान उन्हें 'शेक्सपियर' की उपाधि से सम्मानित न करते।

वह सृजनात्मक शक्ति ही है जिसकी बदौलत हिंदी प्रदेशों में बनाए गए साहित्यिक संस्थान उस दौर में भिखारी ठाकुर को सम्मानित करने के लिए आमंत्रित करने लगे थे। मसलन – बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की ओर से आयोजित समारोह में शिवपूजन सहाय (मुख्य अतिथि थे) ने उन्हें सम्मानित किया। धीरे–धीरे उनकी प्रतिभा की आँच दूर–दूर तक फैलती जा रही थी, और वह शिक्षा विभागों में भी चर्चा के केंद्र बन गए थे। उनकी प्रतिभा का सम्मान करने के लिए बिहार के शिक्षा विभाग के मंत्री और राज्यपाल आयंगर साहब ने अंगवस्त्रम् और 'बिहार भूषण' की उपाधि से उन्हें सम्मानित किया। सरकार द्वारा बनवाई गई भोजपुरी की सभी बड़ी संस्थाओं द्वारा उन्होंने बड़े–बड़े पुरस्कार प्राप्त किया – जिसमें बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की ओर से 'लब्ध प्रतिष्ठित भोजपुरी कलाकार' का सम्मान प्राप्त हुआ।

पुरस्कारों की इस लंबी फेहरिश्त में यह बताते हुए अपनी बात खत्म करना चाहूँगी कि कलकत्ता के धापा में इस महान रंगकर्मी को 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' कहा गया और अभी हाल ही में बिहार ने सोनपुर–छपरा मार्ग पर भिखारी ठाकुर की भव्य प्रतिमा स्थापित की है जो हर आने–जानेवालों के दिलों में उनकी याद को तरोताज़ा करती रहती है।

विदेसिया :

'विदेसिया' भिखारी ठाकुर का प्रथम नाटक है। इसी नाटक ने भिखारी ठाकुर को प्रसिद्धि के शिखर तक पहुँचाया। यह नाटक 1936 ई. में प्रकाश में आया। भगवती प्रसाद द्विवेदी (भिखारी ठाकुर के आलोचक) के अनुसार 30 वर्ष की उम्र में भिखारी ठाकुर ने 'विदेसिया' की रचना की थी। भिखारी ठाकुर का जन्मकाल 1887 है तो 1917 में उनकी अवस्था 30 वर्ष की थी। इस प्रकार 'विदेसिया' 1917 में लिखी गई रचना है जो सफल मंचन के बाद 1936 में प्रकाश में आई थी। ध्यातव्य है कि 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक मंच की स्थापना हुई थी और प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास 'गोदान' भी उसी समय आया था।

'गोदान' में गोबर भी शहर में रहकर चार पैसे कमा लेता है तो पत्नी झुनिया की उपेक्षा करने लगता है, उसके साथ मार–पीट भी करता है, यहाँ तक कि माता–पिता से भी झगड़ जाता है। वस्तुतः शहर की जो अवधारणा आम समाज में प्रचलित थी उसमें शहर को सारी बुराइयों की खान बताया जाता था। यह एक सामान्य प्रवृत्ति थी। इस प्रवृत्ति के आधार पर भिखारी ठाकुर ने शहर के चित्रण को निमर्म, मोहक और छली बनाया है। प्रत्येक रचनाकार अपने युग की उपज होता है। उस युग का जितना प्रभाव प्रेमचंद पर पड़ रहा था उतना ही भिखारी ठाकुर पर भी पड़ रहा था। दोनों ही लेखक शोषण के विरुद्ध लिख रहे थे। शहर हमेशा गरीबों के शोषण पर ही टिका होता है, जाहिर है, भिखारी ठाकुर ऐसे शहर की प्रशंसा नहीं कर सकते थे। उनमें भी समग्र लेखन का मूल प्रतिपाद्य है शोषणपरक समाज का खात्मा। भिखारी ठाकुर जो काम स्थानीय स्तर पर कर रहे थे, उसी काम को प्रेमचंद राष्ट्रीय स्तर पर कर रहे थे।

भोजपुरी क्षेत्र के घर–घर में एक विरहिनी है। यह एक अभावग्रस्त इलाका है। इस इलाके में रोजी–रोटी के साधनों की कमी है। इस क्षेत्र के लोगों का अर्थोपार्जन के लिए बाहर का रूख करना स्वाभाविक है। जब अपनी ही भूमि में गुजर–बसर न हो तो लोग क्या करें ? ऊपर से तरह–तरह की सामाजिक वर्जनाएँ, आर्थिक समस्याएँ, उनकी गरीबी को असहनीय बनाने का कार्य करती है। मनुष्य प्रवासी होकर अपनी दमित इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए कोई न कोई आवलंब ढूँढ़ लेता है। शहर की बाजारवादी व्यवस्था में हर चीज बिकाऊ होती है, स्त्री भी। अतः प्रवासी परस्त्रीगामिता की ओर चल पड़ता है। अपने नए जीवन में वह पहली पत्नी को भूलकर उसके सारे अधिकार रखेलिन (वेश्या) को सौंप कर निंश्चित हो जाता है। वेश्या के मोहपाश में फँस कर अपने घर–परिवार की सुध बिसरा देता है।

'विदेसिया' में बारहमासा शैली में (नारी) नायिका का विरह–वर्णन दिखाया गया है। शैली परंपरागत है, किंतु उस शैली में जो बात कही गई है, वह भिखारी ठाकुर के गाँव–समाज की बात है। स्त्री अपना दुख बटोही से कहती है। विरह की दशा में जो भी नायिका से सहानुभूति रखता है उसी को वह अपना समझने

लगती है। भिखारी ठाकुर इस मनोविज्ञान का सहज ही उपयोग कर लेते हैं। बटोही कहीं टिक कर नहीं रह सकता, फिर भी नायिका उस पर भरोसा करती है।

इसी बहाने से भिखारी ठाकुर अन्य सामाजिक बुराइयों का भी पर्दाफाश करते हैं जिसके कारण यह समाज लगातार खोखला होता जा रहा है। बटोही विदेशी को जुआ खेलते देखता है तो बुरी तरह फटकारता है। प्रकारांतर से पुरुष की भोगवादी और गैर जिम्मेदार प्रवृत्ति पर जोरदार आघात किया है। यह भिखारी ठाकुर के समाज की जरूरत थी, जिसे उन्होंने समझा तथा इसके समाधान को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। भिखारी ठाकुर की समग्र रचनाएँ इसी समाज सुधार की दिशा में बढ़ाया गया एक कदम है। तत्कालीन भारतीय इतिहास में समाज–सुधार राष्ट्रवादी आंदोलन का एक अंग था। क्रांति में मानवीयता का समावेश इसी समाज सुधार के जरिए संभव है। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि कला भी एक हथियार है जिसके जरिए सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्रांति संभव है।

भिखारी ठाकुर की स्त्री–चेतना बहुत उदार नहीं है। वे कुलवधु की तो समस्या समझते हैं, उसे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं पर वेश्या समस्या के प्रति उनका भाव मानवीय नहीं है बल्कि उनकी संवेदना एकांगी है।

रोजी–रोटी की तलाश में नाटक का मुख्य पात्र विदेशी कलकत्ता (जिसे पूर्वी बनीजिया कहा जाता है) जाने की तैयारी करता है। उसके परिवार में उसकी नई–नवेली पत्नी है। विदेशी को तमाम कोशिशों के बावजूद प्यारी–सुंदरी रोक नहीं पाती, उसके सारे प्रयत्न असफल हो जाते हैं। विदेश जाकर विदेशी परस्त्री के साथ मौज–मस्ती भरा जीवन बिताने लगता है। यहाँ घर पर उसकी नवोढ़ा पत्नी प्यारी–सुंदरी राह देखते–देखते व्याकुल होती है। हर आने–जाने वाले से अपने पति का कुशल–क्षेम पूछती है। इसी बीच कलकत्ता जानेवाले 'बटोही' से प्यारी सुंदरी की मुलाकात हो जाती है। वह अपना दुख उसे बताती है तथा अपना संदेश पति तक पहुँचाने का निवेदन करती है। बटोही के पूछने पर प्यारी सुंदरी अपने पति के रूप का ब्योरा देती है। बटोही कलकत्ता पहुँचकर विदेशी को ढूँढ़ निकलता है। तरह–तरह से विदेशी को उसकी घरवाली की याद दिलाते हुए

जिम्मेदारियों को निबाहने की सलाह देता है, वापस लौटने की प्रेरणा देता है। विदेशी, बटोही और रखैल में लंबी कहासुनी होती है। विदेशी को अपनी गलती का एहसास होता है, वह वापस आता है। जब इस बात का पता रखेलिन को चलता है तो वह भी अपने बच्चों को साथ लेकर विदेशी के गाँव पहुँच जाती है। अंत में घर पहुँचते ही विदेशी, प्यारी सुंदरी और रखैल का समझौता हो जाता है।

'विदेसिया' में मुख्यतः चार पात्र हैं – विदेशी, बटोही, प्यारी सुंदरी और रंडी। इन चारों का भिखारी ठाकुर ने प्रतीकात्मक अर्थ लिया है। यथा – "विदेसी ब्रह्म, बटोही धरम, रखेलिन (रंडी) माया, प्यारी सुंदरी 'जीव'।" ब्रह्म जीव दूनों जाना ऐही देह में बाड़न बाकी भेंट ना होखे। कारन? माया। एकरा के काटेवाला बटोही धरम।"[9] नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में इन चारों का सामंजस्य स्थापित कर एक केंद्र बिंदु पर ला खड़ा किया है। भिखारी ठाकुर का समाज धर्म भीरू समाज था। उस समय धर्म से कुछ भी अलग करके नहीं देखा जा सकता था। कमोवेश आज भी वही स्थिति है, यही वजह है कि धर्मनिरपेक्षता भी भारत में धर्म–सापेक्ष है। भिखारी अपनी रचनाओं को व्यापक स्तर पर फैलाने के लिए ही धर्म और रहस्यवाद का ढोंग रचते हैं। सच तो यही है कि भिखारी ठाकुर की दृष्टि में समाज सुधार ज्यादा अहम था, धर्म सुधार नहीं। इसलिए धर्म का आवरण भिखारी ठाकुर की रचनाओं में आरोपित लगता है, स्वाभाविक नहीं।

दूसरे, भिखारी ठाकुर ने नाटक की शैली लोक परंपरा से प्राप्त की थी जिसमें मंगलाचरण, स्तुति और सूत्रधार इत्यादि का चलन था। इस वजह से भी भिखारी ठाकुर की रचनाओं में धार्मिकता का पुट दिखाई पड़ता है।

भाई विरोध :

भिखारी ठाकुर की दूसरी कृति है –'भाई विरोध 'नाटक। यह नाटक कब लिखा गया इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है परंतु यह निश्चित है कि इसकी रचना 'विदेसिया' के बाद हुई है।

इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने मार्मिकता के साथ यह दिखाया है कि किस तरह आपसी मतभेद, अविश्वास और स्वार्थ से व्यक्ति अंधा हो जाता है तथा

गलतफहमियों का शिकार होकर पारिवारिक बिखराव को बढ़ावा देता है। संयुक्त परिवार की टूटन को दर्शाता यह नाटक आज भी (तत्कालीन समाज) उतना ही प्रासंगिक है। एकल परिवार की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति समय की देन है। आधुनिकता के दौर में ऐसी प्रवृत्तियों को समाज ग्राह्य करता चल रहा है। समय की मांग और भाग–दौड़ की दुनिया में स्वार्थ की भावना से वशीभूत होकर लोग संयुक्त परिवार के ढाँचे को तोड़कर एकल परिवार की ओर उन्मुख हो रहे हैं। लोगों में डाह तथा जलन की प्रवृत्ति समाहित हो रही है।

'भाई विरोध' नाटक में, लोक में प्रचलित गीतों और धुनों का भरपूर उपयोग हुआ है। लोक गीत झूमर, विलाप गीत और पूर्वी धुन के आधार पर नाटक में जान डाली गयी है। भिखारी ठाकुर रामायण से गहरे प्रभावित थे अतः दोहा, चौपाई शैली वे रामायण से लेते हैं।

इस नाटक में तीन भाइयों उपदर, उपकारी और उजागर का संयुक्त परिवार है। उपकारी सबसे बड़ा और परिवार का मुखिया है। उपकारी के संरक्षण में इस परिवार की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। उपदर, उपकारी विवाहित हैं उजागर अभी विवाह के बंधन से मुक्त है। उपकारी के चार बच्चे हैं और उपदर संतानविहीन है।

एक बुढ़िया कुटनी के बहकावे में आकर उपदर की पत्नी कर्त्तव्यविमुख हो जाती है। गलत मार्गदर्शन के प्रभाव से उपदर की पत्नी, उपदर को भाईयों से लड़वा देती है। स्त्रीहट के कारण उपदर भी अपना विवेक खो देता है। उपदर की पत्नी भाईयों में फूट डलवाने में सफल हो जाती है। विवेकशून्य उपदर भाईयों में संपत्ति का बंटवारा कर देता है। छोटा भाई उजागर अपना हिस्सा लेकर उपदर (बड़े भाई) के साथ रहने लगता है क्योंकि वह अविवाहित होता है।

कुछ दिनों बाद बुढ़िया कुटनी फिर आती है और अपने उल्टे–सीधे चालों द्वारा उपदर की पत्नी का कान भर देती है। साजिश रचवाकर उजागर को जान से मरवाने की कोशिश करती है। पत्नी के बहकावे में पड़कर उपदर अपने सहोदर भाई की हत्या कर देता है। इस जघन्य अपराध को करने के बाद उसकी आँख

खुलती है तब तक बहुत देर हो गई थी, उसके आँखों पर जो भ्रम का पर्दा है वह सब कुछ समाप्त होने पर हटता है।

यह नाटक उपदर को पुलिस द्वारा पकड़े जाने के साथ समाप्त हो जाता है। इस नाटक के द्वारा एक हँसते–खेलते परिवार का खुशनुमा माहौल बहकावे में पड़कर किस प्रकार गम में बदल दिया जाता है उसका सजीव प्रदर्शन हुआ है। एक सुखी–संपन्न परिवार बहकावे में पड़कर अपनी सुख शांति को ग्रहण लगा बैठता है और विवेकशून्य हो जाता है। इसी विवेकशून्यता की स्थिति उसके सुख को कत्लेआम में तब्दील कर देती है, परिवार की व्यवस्था को तार–तार कर देती है। इस नाटक का अंत करूणा के साथ–साथ दिल को दहलादेने वाला है। इस नाटक के माध्यम से भिखारी ठाकुर ने यह कहने का प्रयास किया है कि यह संसार मायामय है, यहाँ भाँति–भाँति के लोग है। किसी को दूसरों की खुशी में ही अपनी खुशी झलकती है तो किसी को दूसरों की खुशी को देखकर दुख होता है। ऐसे लोगों को दूसरों की खुशी को ग्रहण लगाने में ही आनंद की प्राप्ति होती है। यहाँ बुढ़िया कुटनी की प्रवृत्ति ऐसी ही है उपदर के हँसते–खेलते घर को उजाड़ने के बाद उसे असीम सुख की प्राप्ति होती है। एक शांतिप्रिय और सुखी संयुक्त परिवार किस प्रकार बरगलाए जाने पर पतन की ओर उन्मुख होता है इसे ही इस नाटक का मुद्दा बनाया गया है।

Jawaharlal Nehru University Library
TH-12539

विधवा विलाप :

भिखारी ठाकुर की यह कृति ग्रामीण परिवेश में होनेवाले बेमेल विवाह और 'बेटी बेचवा' जैसी समस्याओं के दुष्परिणामों को दर्शाती है। यह कृति कब प्रकाश में आयी, इसका कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

विधवा विलाप नाटक समाज के अतिउपेक्षित वर्ग की विधवाओं की दशा को प्रदर्शित करता है। अनमेल विवाह के कारण उत्पन्न होने वाली स्थिति स्त्री को वैधव्य की दशा तक पहुँचती है। विधवाओं पर तरह–तरह के बंदिश लगाए जाते हैं। उनका साजश्रृंगार करना प्रतिबंधित होता है। विवाह जैसे संस्कारों पर उनकी उपेक्षा की जाती है। विधवाओं को संपत्ति रखने का अधिकार नहीं होता है। मृत पति की याद में शेष जीवन बिताने की समाज शिक्षा देता है अतः पुनर्विवाह का

तो प्रश्न ही नहीं उठता। अपनी दुर्दशा में विधवाएँ भगवान को याद करती हुई शेष जीवन बिता देती हैं।

इस नाटक में जगह–जगह पर चौपाई शैली का प्रयोग किया गया है। लोकगीत के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं जैसे – विरहा, चौबोला, विलाप गीत, आरती, भजन आदि। भिखारी ठाकुर गोंसाईं जी से खासे प्रभावित थे। अतः रामायण की शैली का प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है।

विधवा विलाप नाटक एक तरह से बेटी वियोग नाटक का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इस नाटक में बूढ़े वर से ब्याही गई चटक की बेटी 'उपातो' के अंधकार मय भविष्य की ओर इशारा किया गया है। उपातो का पति अधेड़ था अतः ज्यादा दिन तक उसका साथ न दे सका। परिणामस्वरूप कम उम्र में ही वह विधवा हो गई। अपनी संपत्ति का संरक्षक उदवास नाम के अलगिहा पट्टीदार को बना कर वह निश्चित हो जाती है। एक दिन एक भिक्षु को कुछ दान देने के लिए उपातो पैसे मांगती है, यह उदवास की पत्नी को अच्छा नहीं लगता, उसे लगता है कि वह सारा धन लुटा रही है। अतः अपने पति से उपातो की शिकायत करती है। उपातो को घर से निकालने की मांग करती है। स्त्रीहठ के आगे अंधे होकर उदवास अपने मित्र उपदेश से सलाह–मशविरा करता है। उपदेशएक योजना बनाता है और तीर्थ यात्रा के बहाने उपातो को दोनों मिलकर, जंगल में ले जाते हैं। जंगल में उपातो पर जानलेवा हमला करते हैं तभी एक साधु वहाँ आ जाता हैं उपातो को वहीं छोड़कर दोनों वापस आ जाते हैं। उपातो अपना हाल साधु को बताती है, तत्पश्चात् साधु उपातो को एक आश्रम में ले जाता है। आश्रम में ईश्वर की भक्ति करते हुए उसका बाकी जीवन व्यतीत होता है। वह मीरा की ही भांति कृष्ण के रंग में रंगती चली जाती है। नाटक यहीं पर समाप्त हो जाता है।

भिखारी ठाकुर की यह रचना समाज में विधवाओं की उपेक्षित और दुःखभरी स्थिति को दर्शाती है। विधवा विलाप में करूणा अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँची है। वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति से रोम–रोम सिहर उठता है और आँसुओं को रोका नहीं जा सकता। अनायास ही प्रेमचंद द्वारा रचित कहानी 'बूढ़ी काकी' की याद आ जाती है। जिस प्रकार धोबी का कुत्ता न घर का होता है न घाट का, उसी

प्रकार समाज में विधवाओं की स्थिति है। उसे न तो ससुराल में स्थान मिलता है न मायके में। सामाजिक उपेक्षा और प्रताड़ना का शिकार होना उसकी नियति बन जाती है।

कलयुग प्रेम :

यह नाटक 1917 से 1936 के बीच की रचना है। भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध नाटक 'कलयुग प्रेम' में नशाखोरी की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। एक नशेबाज व्यक्ति, उसकी पत्नी और पुत्र की दुःखद स्थिति का वर्णन किया गया है।

नशाखोरी की समस्या समाज को पतनोन्मुख कर रही है। नशाखोरी से व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ–साथ आर्थिक और पारिवारिक दशा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

लोक शैली से प्राप्त गीतों का भरपूर उपयोग किया गया है। पूर्वी धुन, विलाप गीत, चौपाई, छंद, सवैया आदि प्रचलित रूपों को इस नाटक में लिया गया है। विलाप गीत मार्मिक करूणा की अभिव्यक्ति कराते हैं।

इस नाटक में एक शराबी है जिसकी नशाखोरी की लत ने उसे विवेकशून्य बना दिया है। नशाखोरी की वजह से वह अपना सारा धन गवाँ चुका है। इस बुरी आदत के कारण उसकी पत्नी और पुत्र की नौबत भूखों मरने की हो गई है। दुःखहारिन (शराबी की पत्नी) के लाख समझाने के बावजूद वह अपनी बुरी आदत नहीं छोड़ता। शराबी घर की सारी संपत्ति गवाँ देने के बाद परस्त्रीगामिता की ओर बढ़ता है। सुरा और सुंदरी के पीछे–पीछे वह अपनी ही कब्र खोदता प्रतीत होता है। घर में धन के नाम पर उसके पुत्र के हाथ का बेरा (कंगन) ही शेष होता है, शराबी बाप उसे भी मांग बैठता है। पुत्र के इंकार कर देने पर पुनः वह वापस रंडी के घर की राह लेता है। रोते–बिलखते माता–पुत्र वेश्या के पास जाते हैं और शराबी से विनती करते हैं कि घर वापस चलो। परंतु शराबी बाप वापस आने से इंकार कर देता है तथा पुत्र को मारने की धमकी देता है।

पिता के भय से पुत्र (पूर्वी बानिजिया) कलकत्ता भाग जाता है। पाँच वर्ष बाद पैसे कमाकर वापस आता है। अपने साथ लाए गए पैसे को माता के चरणों में

रख देता है। उसकी माता उसे ढेरों आशीर्वाद देती है। यहीं पर कहानी का अंत हो जाता है।

इस नाटक के द्वारा भिखारी ठाकुर ने भोजपुरी परिवेश में व्याप्त नशाखोरी की समस्या और उसके दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है। नशाखोरी के कारण परिवार की स्थिति और भी बद्तर हो जाती है। नशा व्यक्ति को विवेकशून्य बना देता है, उसमें सोचने–समझने की शक्ति खत्म हो जाती है। नशाखोरी व्यक्ति को कर्त्तव्यविमूढ़ बना देती है। व्यक्ति कुकृत्यों की ओर उन्मुख हो जाता है और अपने उत्तरदायित्वों से विमुख हो जाता है। नशाखोरी और वेश्यावृत्ति समाज के ऐसे कोढ़ हैं जिसे लग जाए उसे पूरी तरह बर्बाद करके छोड़ते हैं।

शराब पी–पी कर व्यक्ति के खुद का स्वास्थ्य तो प्रभावित होता ही है पूरे परिवार के स्वास्थ्य पर भी संकट आ जाता है। दाने–दाने को मोहताज उसके परिवार वाले एक क्षण भी तनाव से मुक्त नहीं होते। घर की शांति में खलल पड़ता है वह अलग। शराब पीकर व्यक्ति अपने–आपे से बाहर हो जाता है और पत्नी तथा बच्चों को पीटना, अश्लील गालियाँ देना, झगड़ा करना उसका नित्य कर्म हो जाता है। इतने से भी नहीं मन भरता तो परस्त्रीगामी हो जाता है। ऐसे घिनौने सामाजिक कोढ़ की तरफ भिखारी ठाकुर ने अपनी उगुँली उठाई है। अपने प्रयास में वे पूर्णतः सफल हुए हैं।

राधेश्याम बहार :

भिखारी ठाकुर की पंचम कृति 'राधेश्याम बहार' है। इस नाटक का रचनाकाल ज्ञात नहीं है। यह रास लीला पर आधारित नाटक है। इस नाटक में कृष्ण, गोपियों एवं यशोदा के बीच वार्तालाप का क्रम स्थापित कर कृष्ण लीला का गान किया गया है।

इस नाटक में कृष्ण लीला का वर्णन है। सूरदास के बाद भिखारी इस परंपरा को आगे बढ़ाते प्रतीत होते हैं। कृष्ण और गोपियों के बीच होने वाली मीठी तकरार का वर्णन किया गया है।

चौपाई, दोहा, गीत, कवीत्त, मैथिली बोली के गीत, बिरहा, पूर्वी आदि लोक प्रचलित गानों और धुनों का प्रयोग किया है। चौपाई, वंदना, कवित्त नाट्य (परंपरागत) शैली से उधार ली है।

इस नाटक में गोपियाँ जल भरने के लिए पनघट पर जाती हैं। वहाँ श्रीकृष्ण से मिलने के बाद कृष्ण के साथ युगलगान करती हैं। शिकवे–शिकायत के दौर के बाद कृष्ण को परेशान करने के उद्‌देश्य से गोपियाँ वंशी चुरा लेती हैं। कृष्ण अपनी वंशी की मांग करते हैं :

"वंशी दे दो ऐ सखि! क्यों करती हलकान,

मुसुकी छोड़त गाल बजावत लागत नाहीं गलान।"[10]

जब गोपियाँ वंशी वापस नहीं करती हैं तो कृष्ण गुस्सा जाते हैं। गोपियों को तरह–तरह से परेशान करते हैं। गोपियों की गगरी फोड़ देते हैं। गोपियाँ तुरंत यशोदा के पास जाती हैं और उनसे कृष्ण की शिकायत करती हैं। उनकी फरियाद सुनकर यशोदा जी कृष्ण की खबर लेती हैं। नाटक यहीं पर समाप्त हो जाता है।

भिखारी ठाकुर के कृष्ण (छैल चिकनिया) मनचले हैं जो अपनी शरारतों से बाज नहीं आते। गोपियों के साथ जबरदस्ती करते हैं उनका रास्ता रोक लेते हैं, तरह–तरह की बातें बनाते हैं। एक तरफ वह मीठे बोल बोलते हैं तो दूसरी ओर मुंह जोर भी है। उनके एक पद में घड़ा फूटने के बहाने शरीर की नश्वरता की ओर संकेत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रचना में उन्होंने अपनी मृत्यु की घोषणा कर दी थी। वह दिन शनिवार ही था जब उनका देहांत हुआ।

"पनिघट पर गगरी फोरलन मोर।

जसोदा के बेटा मोहन मीठबोलिया

भइलन नगर में चोर।"

"कहत भिखारी सनीचर के दिन होई

सउसे गाँव के बटोर।"[11]

बेटी वियोग :

इस नाटक का रचना काल अनिश्चित है। इसे 1914 से 1936 के बीच की रचना माना जा सकता है। बेटी वियोग अर्थात् 'बेटी बेचवा' भिखारी ठाकुर का चर्चित लोक नाटक है। पैसे के अभाव में व्यक्ति इस हद तक गिर सकता है कि अपनी कन्या का विक्रय कर देता है। महाजनी व्यवस्था के चक्र में फँसा किसान अपनी पुत्री का बूढ़े वर के साथ विवाह करा कर अपने उत्तरदायित्व का पालन करता है, बदले में उसे धन मिलता है। उस धन से वह अपना (रेहन पर रखे हुए) खेत महाजन के हाथों से छुड़ा लेता है। एक मजबूरी के आड़ में वह कितना बड़ा अपराध कर बैठता है इसका उसे इल्म भी नहीं होता। पैसे के लालच में बूढ़े वर के हाथों बेटी को बेच कर अपने कर्त्तव्य का निर्वाहन तो हो जाता है किंतु उसकी बेटी का भविष्य अंधकारमय हो जाता है। अपने पिता की उम्र के व्यक्ति से विवाह करके वह जल्द ही वैध्व्य झेलने को बाधित होती है।

यह नाटक चौपाई से शुरु होता है। गणेश भगवान की वंदना के साथ–साथ समाज में कन्या विक्रय की समस्या की झलक शुरुआत में ही मिल जाती है। विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले गुरहथी के गीत, झूमर, विलाप गीतों की भरमार है। एक जगह 'पंडित राधेश्याम कथावाचक' की खड़ी बोली वाली शैली का प्रयोग किया गया है। भिखारी ठाकुर ने तत्कालीन प्रचलित रूपों का भरपूर प्रयोग किया है।

इस नाटक में 'चटक' नामक व्यक्ति और उसकी पत्नी 'लोभा' अपनी पुत्री 'उपातों' के विवाह को लेकर चिंतित होते हैं। धनाभाव के कारण दहेंज का इंतजाम नहीं कर पाते हैं। अंत में यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बेटी की शादी ऐसे घर में की जाए कि पैसे (दहेज) भी न देने पड़ें उल्टे वरपक्ष ही पैसा दें। समस्या का समाधान जल्दी ही हो जाता है। पंडित जी की मदद से एक ऐसा घर मिल जाता है। एक बूढ़े वर की तलाश करके रिश्ता तय कर दिया जाता है। एक

अधेड़ उम्र के व्यक्ति से 'उपातो' का विवाह हो जाता है। विदाई के वक्त तक (लड़की) उपातो को पता चल जाता है कि उसका वर बूढ़ा है। अपने ऊपर आनेवाली विपत्ति को सोच करके उपातो करुण विलाप करती है –

"रुपया गिनाई लिहलऽ पगहा धराई दिलहऽ

चेरिया के छेरिया बनवलऽ हो बाबु जी।"[12]

इस विलाप को शादी की चुहल में छिपा दिया जाता है। समाज के लोग चटक, लोभा और पंडित जी पर थू–थू करते हैं। उपोता की विदाई हो जाती है और नाटक यहीं पर समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने एक साथ तीन–तीन समस्याओं को अपना निशाना बनाया है – दहेज, बेटी–विक्रय और बेमेल विवाह। स्त्री का अपने जीवन पर कोई अधिकार नहीं। इस पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री के जीवन की डोर पुरुष के हाथ में है जो जिसे चाहे सौंप सकता है, स्त्री की इच्छा–अनिच्छा का तो सवाल ही नहीं उठता। स्त्रियों की परतंत्रता, दहेज, बेमेल विवाह और कन्या–विक्रय की समस्या भोजपुरी समाज ही नहीं पूरे भारत में व्याप्त थी। गोदान में भी प्रेमचंद ने होरी की पुत्री की ऐसी ही शादी का विवरण दिया है। बाबा नागार्जुन ने भी 'नयी पौध कहानी में इस समस्या को उठाया है। हिंदी साहित्य में स्त्रियों के जीवन से संबंधित कई समस्याओं को उठाया गया है। परंतु भिखारी ठाकुर ने इसे बड़े ही मार्मिक तरह से प्रदर्शित किया है। इस बाजारवादी संस्कृति में स्त्री भी बिकाऊ है और पैसे के बल पर हर चीज खरीदी जा सकती है ऐसी मानसिकता के पोल खोल दिए हैं। स्त्री स्मिता के कई सवाल यहाँ उठाए गए हैं जिन पर विस्तृत रूप से सोचने की जरूरत है।

गंगा स्नान :

'गंगा स्नान' भिखारी ठाकुर का चर्चित एवं समस्यापरक नाटक हैं यह नाटक पूस सूदी दशमी मंगलवार तारीख 11 जनवरी 1938 ई. को छपा था। 'गंगा स्नान' नाटक धार्मिक शुचिता के नाम पर किए जानेवाले ढोंग को प्रदर्शित करता है। मन के मैले तन को चाहे जितना धोए मन का मैल साफ नहीं कर सकते। इस

नाटक में वृद्धाओं की दयनीय स्थिति को भी प्रदर्शित किया है। वृद्धों को बेकार की वस्तु समझकर उनकी संवेदनाओं और भावनाओं को मारने की कोशिश आजकल की नई पीढ़ी करती है, वृद्ध फिर भी उनकी मंगलकामना ही करते हैं उनके सपने में भी अपनी संतानों का बुरा नहीं आता।

प्रस्तुत नाटक में चौपाई, वार्तिक, कवित्त, गीत, दोहा, सामूहिक गीत, विलाप गीत, गंगाजी की स्तुति का प्रयोग किया गया है। भिखारी ठाकुर के इस नाटक में गीतों की भरमार है। अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में वे सफल हुए हैं।

इस नाटक में 'गंगा स्नान' के लिए औरतों के बीच जो मोह होता है उसको प्रदर्शित किया गया है। गंगा स्नान के लिए औरतें तैयार होती हैं तो मलेछू की माँ (बुढ़िया) भी अपनी इच्छा जाहिर करती है । परंतु मलेछू की पत्नी को अपनी सास का साथ आना अच्छा नहीं लगता वह कहती है –

"बुढ़िया जाई तहाँ ना जाइब सुन निहोरा मोर।

अबरु जो कुछ कहब बालम, हुकुम बजाइब तोर।।"[13]

मलेछू का छोटा भाई अटपट भी अपनी पत्नी के साथ गंगा स्नान के लिए तैयार होता है, परंतु वह भी माँ को ले जाने में आनाकानी करता है। बाद में दोनों भाई परामर्श कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (बुढ़िया) माँ एक ही शर्त पर जाएगी, उसे सबका सामान ढोना होगा। बुढ़िया बेचारी किसी तरह उन दोनों बेटों और बहुओं की मोठरी ढोते हुए मंजिल तक पहुँचती है। बहुओं को इतने पर भी संतोष नहीं मिलता, अपने पति को बहका कर बुढ़िया की पिटाई करवा देती हैं। थोड़े देर में बुढ़िया मेले में भटक जाती है। मलेछू की कोई संतान नहीं थी अतः पति–पत्नी संतान प्राप्ति के निमित्त एक ठग साधु के चक्कर में फँस जाते हैं। साधू मलेछू की पत्नी का सारा जेवर लेकर चंपत हो जाता है। तब मलेछू की आँख खुलती है और उसे अपनी गलती का अहसास होता है कि देवी जैसी माँ के अपमान से ही उसकी दुर्गति हुई। पश्चाताप की अग्नि में जलकर पति–पत्नी माँ की तलाश करते हैं। उधर उसकी माँ संकट में भी अपने बेटे की मंगलकामना ही करती है। एक पेड़ के पास ही उनकी माँ लेटी हुई मिल जाती है। माँ के चरणों

में स्वर्ग होता है अतः पति–पत्नी दोनों माँ के चरणों में गिर पड़ते हैं और अपने किए पर शर्मिंदा होते हैं। माँ का हृदय इतना विशाल है कि वे दोनों को माफ कर देती है। यहीं पर नाटक का कथानक समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में एक साथ भिखारी ठाकुर ने कई सामाजिक समस्याओं की तरफ ध्यान खींचा है। वृद्धाओं की असहाय स्थिति, धार्मिक पाखंड और साधु के वेश में ठग का मिलना समाज की बढ़ती हुई अंधविश्वास और जड़ता की भावना को दर्शाता है। हासिए पर पड़े बड़े–बूढ़ों को बेकार मानकर दरकिनार करने की प्रवृत्ति को दर्शाता यह नाटक प्रासंगिक है। भिखारी ठाकुर ने धार्मिक अंधविश्वासों और पाखंडों की पोल खोल दी है तथा कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया है।

गबरधिचोर :

इस नाटक का रचनाकाल अज्ञात है। 'गबरधिचोर' भिखारी ठाकुर का प्रसिद्ध नाटक है। इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने एक अंतर्राष्ट्रीय समस्या को उठाया है। पात्रों का चयन खूब सोच–विचार कर किया है।

प्रस्तुत नाटक में चौपाई से नाटक की शुरूआत होती है। नाटक को व्यापक स्तर पर फैलाने के लिए भिखारी ठाकुर धर्म का ढोंग रचते हैं तथा मंगलाचरण या वंदना से नाटक की शुरूआत करते हैं। प्रचलित लोकतत्वों और शैलियों का भरपूर प्रयोग करते हैं जैसे – चौपाई, पूर्वी, विलाप गान, निर्गुण के पदों को लाते हैं। कहीं–कहीं खड़ी बोली की छौंक के साथ भोजपुरी बोली का मिलान कर देते हैं। गीत और विलाप गान बेजोड़ है. जिनसे नाटक में सजीवता आ गई है।

इस नाटक में गलीज नामक एक परदेशी है जो ग्रामीण परिवेश का है तथा दूसरा पात्र गड़बड़ी नाम का एक आवारा युवक है जो नाटक में अपने नाम के अनुरूप है। 'धिचोर' गलीज की पत्नी से उत्पन्न 'गड़बड़ी' की अवैध संतान है, जो गलीज के लंबे प्रवास के कारण उत्पन्न हुआ है। लंबे प्रवास के बाद गलीज घर लौटता है और अपनी पत्नी से पुत्र के विषय में पूछताछ करता है। 'धिचोर' को

अपना पुत्र मानकर गोद में बिठा लेता है। गलीच धिचोर को अपने साथ ले जाना चाहता है किंतु पत्नी को नहीं। वह धिचोर के साथ जबरदस्ती करता है किंतु धिचोर अपनी माता को छोड़कर नहीं जाना चाहता। तभी वहाँ गड़बड़ी आता है और धिचोर पर अपना अधिकार जताने लगता है। धिचोर पर अधिकार को लेकर गलीज, गड़बड़ी और गलीज की पत्नी में झगड़ा होने लगता है और बात पंच तक पहुँचती है। पंच के फैसले को अपनी ओर करने के लिए गलीज और गड़बड़ी रिश्वत देने को भी तैयार हो जाते हैं। इस पेचीदा मामले को सुलझाने के लिए पंच एक तरकीब निकालती है वह निर्णय देती है कि – धिचोर के तीन टुकड़े करके तीनों में बराबर–बराबर बांट दिया जाए क्योंकि तीनों का धिचोर पर बराबर हक है। जल्लाद बुलवाकर धिचोर के टुकड़े करवाने का उपक्रम किया जाता है। जल्लाद प्रति कटाई–चार आना पैसे की मांग करता है, इस पर गलीज बहू हाहाकार कर उठती है और कहती है – मुझे बच्चा नहीं चाहिए, जीते जी उसे दोनों (गलीच या गड़बड़ी) में से एक को दे दें।

यह सुनकर पंच निर्णय लेते हैं कि जिस व्यक्ति के मन में अपनी संतान के प्रति ममता और प्यार नहीं है उसका पुत्र हो ही नहीं सकता। इस आधार पर यह बच्चा गलीज बहु को मिलना चाहिए। पंच के इस निर्णय के बाद धिचोर अपनी माता के पास चला जाता है और गलीच तथा गड़बड़ी शर्मिंदा होते हैं। नाटक का कथानक यहीं पर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार 'गबरधिचोर' नाटक में भिखारी ठाकुर ने समाज में फैले सामाजिक विचलन को दर्शाते हुए एक अवैध संतान को सामाजिक मान्यता दिलाने के लिए क्रांतिकारी कदम उठाया है।

पुत्रवध :

भिखारी ठाकुर की नवम् कृति पुत्रवध नाटक है। इस नाटक का रचनाकाल भी अज्ञात है। अनुमानतः 'पुत्रवध' का लेखन काल 1938 ई. के पूर्व ठहरता है।

ईश्वर वंदना से यह नाटक शुरू होता है। चौपाई शैली में गणेश जी की वंदना की गई है। गीत के विभिन्न रूपों को इस नाटक में संजोया गया है। जैसे – कजरी, झूमर, खड़ी बोली में गाना, चौबोला आदि। लोक प्रचलित धुनों के प्रयोग से नाटक में जान आ गई है।

'पुत्रवध' नाटक में एक गृहस्थ परिवार की कहानी है जिसमें बहुविवाह की कुप्रथा पर प्रहार किया गया है। इस नाटक में चपाट राम एक गृहस्थ है जिसकी दो पत्नियाँ हैं– बड़की और छोटकी। बड़की से एक पुत्र है 'चेतराम 'जो विद्यालय में पढ़ता है। छोटकी संतानहीन है। बड़की अपने पुत्र चेतराम की जिम्मेदारी छोटकी पर छोड़कर कुछ दिन के लिए मायके चली जाती है। बड़की के जाने पर कुछ दिन बाद एक कुटनी बुढ़िया आती है, और छोटकी को बहकाने की कोशिश करती है। कुटनी के जाने के बाद एक साधु आता है। चेतराम उस साधु की सेवा करता है अतः साधु प्रसन्न होकर उसे ढेरों आशीर्वाद देता है, कुटनी के बहकावे में आकर छोटकी चपाट से गहने की मांग करती है। छोटकी का चरित्र ठीक नहीं होता है, उसका संबंध एक सोनार से होता है। छुप–छुप कर सोनार छोटकी से मिलने आता है। सोनार और छोटकी की साँठ–गाँठ चलती रही है तभी चेतराम आकर छोटकी से खाने की मांग करता है। बालक चेतराम को सोनार मिलनुआ का चाल–चलन अच्छा नहीं लगता इसलिएवह छोटकी से इस संदर्भ में पूछ–ताछ करता है। उसका यह हस्तक्षेप छोटकी बर्दाश्त नहीं कर पाती और चेतराम को डाँटती है। इसी बीच चपाटराम आ जाता है, छोटकी चालाकी से अपने प्रेमी को छुपा देती है और चेतराम पर लांछन लगाती है। चेतराम और चपाटराम की भेंट जंगल में होती है और वहीं पर गुस्से से पागल चपाट राम अपने पुत्र की हत्या कर देता है। इधर बड़की मायके से लौट आती है और सारी स्थिति का भान होने पर जंगल की ओर जाती है। अपने पुत्र की लाश देखकर रोने लगती है। एक साधु की कृपा से वह जीवित हो उठता है। चपाटराम को जब षडयंत्र का पता

चलता है तो वह पश्चाताप करता है। इस प्रकार सबका मिलन हो जाता है और इस नाटक का कथानक यहीं पर समाप्त हो जाता है। इस नाटक में भिखारी ठाकुर ने सामाजिक विद्रूपताओं और नैतिक पतन की ओर इशारा किया है। पुरुष वर्ग की बहु–पत्नी प्रथा, परपुरुषगामिता और बाहरी हस्तक्षेप के कारण उपजी पारिवारिक कलह की स्थिति को प्रदर्शित किया है।

ननद–भऊजाई :

यह नाटक कब लिखा गया इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं है। प्रणय की प्रेरणा मुक्त वातावरण की उपज है। ननद भाभी के परिहास लोक प्रसिद्ध हैं। इसी परिहास में ननद अपनी भाभी के सम्मुख अपने मन की आकांक्षा भी रख देती है। अतः भाभी का यह कर्त्तव्य है कि उसकी जिज्ञासाओं को शांत करे, पारिवारिक शिक्षा के साथ–साथ दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के गुर भी सिखाए। यह नाटक इसी उद्देश्य से लिखा गया है।

इस नाटक में हास–परिहास के रंग देखने को मिलते हैं। यह भिखारी ठाकुर का सबसे छोटा प्रामाणिक नाटक है। गानों की रसीली धुनों से इस नाटक, को सजाया गया है। चौपाई, और गीत शैली के तर्ज पर कथानक को पिरोया गया है। गंवई जीवन में ननद–भाभी के रिश्ते की मजबूती को बढ़ाने के उद्देश्य से इस नाटक को लिखा गया है।

इस नाटक में एक गवँई स्त्री है जिसका नाम अखजी है। वह नवयौवन के कारण नई–नई जिज्ञासाओं को दबा नहीं पा रही है और अपने सवालों का जवाब नहीं मिलने के कारण दुखी है। उसकी भाभी उसको ढूँढ़ते हुए बरगद के पेड़ के पास पहुँचती है और उसकी उदासी का कारण पूछती है। उत्तर में ननद उत्तर देती है कि उसकी सारी सहेलियाँ विवाहित हैं, तथा अपने–अपने पतियों के बारे में बातें करते हैं। वह उस बातचीत में हिस्सा भी नहीं ले पाती क्योंकि इन बातों से

वह अनभिज्ञ है। उसकी भी इच्छा है कि उसका विवाह हो जाए क्योंकि वह अब बड़ी हो चुकी है। उसकी भाभी उसे बताती है कि वह विवाहित है क्योंकि उसका विवाह बचपन में ही हो गया था। उचित समय आने पर उसका गौना कर दिया जाएगा। यौन संबंधों की शिक्षा देती हुई अखजी की भाभी उसे थोड़ा सब्र करने को कहती है। उसके मन को शांत करने के उद्देश्य से ईश्वर का भजन करने की सलाह देती है। अखजी के ससुराल संदेशा भेजने की बात चलती है और उसकी विदाई की तैयारी शुरू हो जाती है। लेकिन अगले दिन सुबह ही अखजी का पति चेथरू उसकी विदाई कराने के लिए आ जाता है। उन दोनों को आशीर्वाद देकर विदा कर दिया जाता है। नाटक का कथानक यहीं पर समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में ननद–भाभी के रिश्तों की मजबूती को बढ़ावा मिला है साथ ही साथ इस ओर संकेत किया गया है कि अज्ञात यौवना ननद को उसकी भाभी ही यौन शिक्षा दे सकती है ताकि उनका आनेवाला दांपत्य जीवन सुखी रह सके।

संदर्भ–संकेत :

---

[1] भिखारी ठाकुर – देवकीर्तन, पृ.1
[2] केदार चौधरी – भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोकचेतना, पृ.10
[3] वही, पृ.15
[4] भाखारी ठाकुर – देवकीर्तन, पृ.25
[5] केदार चौधरी – भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोकचेतना, पृ.19
[6] संजीव – सूत्रधार, पृ.65
[7] केदार चौधरी – भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोकचेतना, पृ.17
[8] भगवती प्रसाद द्विवेदी – इंद्रप्रस्थ भारती, पृ.19
[9] वही, पृ.151
[10] वही, पृ.154
[11] वही, पृ. 154
[12] वही, पृ.113
[13] वही, पृ.18

द्वितीय अध्याय

ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष और सूत्रधार का रचनाकाल, कथ्य और रचना प्रक्रिया

(क) सामाजिक पक्ष

(अ) संयुक्त परिवार

(ब) संयुक्त परिवार में नारी की स्थिति

(स) नारी जीवन से संबंधित अन्य समस्याएँ

(क) दहेज की समस्या

(ख) अनमेल विवाह

(ग) परस्त्रीगामिता

(घ) विधवाओं की स्थिति

(द) संयुक्त परिवार का विघटन

(ध) नशाखोरी और वेश्यावृत्ति

(ख) राजनैतिक पक्ष

(अ) जमींदारी प्रथा

(ब) प्रतिभा की उपेक्षा

(स) साहित्यिक राजनीति

(ग) संस्कृतिक पक्ष

(अ) लोक संस्कृति

(ब) लोक भाषा

(स) धार्मिक पाखंड

(द) रहन–सहन तथा जीवन स्तर

सूत्रधार का रचनाकाल, कथ्य और रचना प्रक्रिया :

संजीव का उपन्यास सूत्रधार 2003 ई. में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास लीजेंड बन चुके 'भिखारी ठाकुर' की जीवनी है। 'सूत्रधार' का कथ्य बहुआयामी है। इस जीवनीपरक उपन्यास की कथा संजीव ने भिखारी ठाकुर के जीवन के इर्द–गिर्द बुनी है। भिखारी ठाकुर का जीवन बहुस्तरीय संघर्ष से भरा हुआ था। 'सूत्रधार' के कथ्य को समझने के लिए उस संघर्ष की विवेचना आवश्यक है। भिखारी ठाकुर जैसे व्यक्ति के जीवन के बारे में औपन्यासिक शिल्प लिखना दोहरे स्तर–कथ्य और शिल्प पर मुश्किल काम था। इस कार्य को और मुश्किल बनाया भिखारी ठाकुर के बारे में प्रामाणिक सामग्री की अनुपलब्धता ने। संजीव ने यह उपन्यास मानव संसाधन विकास मंत्रालय के संस्कृति विभाग की फेलोशिप के तहत लिखा है। जाहिर है, इस फेलोशिप की वजह से उन्हें तथ्य–संधान में काफी सुविधा हुई। आर्थिक संसाधन की कमी, जिसे मात्र लेखक न झेल पाता या उतना श्रम करके सामग्री इकट्ठा न कर पाता, वह सुविधा संजीव को प्राप्त थी। इसीलिए इस उपन्यास से प्रामाणिक सामग्री की उपलब्धता की प्रत्याशा द्विगुणित हो जाती है।

'सूत्रधार' के भिखारी ठाकुर का संघर्ष :

(1) एक दलित व्यक्ति का परंपरागत पेशा छोड़कर कुछ अलग करने का संघर्ष। इस संघर्ष में कुछ दिनों तक भिखारी को दोनों काम (परंपरागत पेशा/वंशानुगत पेशा और नृत्य) करना पड़ा, फलस्वरूप संघर्ष दोहरा और कठिन हो गया।

(2) एक दलित व्यक्ति की कलाकार तक की यात्रा का संघर्ष – एक स्वर्ण व्यक्ति को भी नाच–गाना दिखाने पर सामाजिक बहिष्कार झेलना पड़ता था किंतु एक निम्न वर्ग के व्यक्ति का संघर्ष दो स्तरों पर होता है, एक तो अपने वर्ण तथा वर्ग से अलग होने पर सामाजिक दबाव का सामना करना पड़ता है, दूसरे समाज में उस काम को लेकर जो उपहास और उपेक्षा का भाव होता है, उससे भी टकराना पड़ता है। यह संघर्ष इतना मार्मिक था

कि भिखारी ठाकुर को अपनी पत्नी के सामने भी पुंसत्व की परीक्षा देनी पड़ जाती है। नाच–नौटंकी करनेवाले व्यक्ति को समाज या तो समलिंगी मानने लगता था, या नपुंसक। एक कलाकार के तौर पर भिखारी ठाकुर को इस स्तर पर भी संघर्ष करना पड़ा था।

(2) एक दलित व्यक्ति को समाज–सुधारक के रूप में उभरने पर जो यश प्राप्त होता है, उस यश की वजह से अनेक ईर्ष्यालु दुश्मन बन बैठते हैं। दूसरे, भिखारी ठाकुर समाज में जिस सुधार के लिए जागृति फैला रहे थे उसे समाज बुराई मानने को तैयार ही नहीं था। भिखारी ठाकुर ने ज्यादातर स्त्री से जुड़ी समस्याओं को उठाया है, जबकि तत्कालीन समाज स्त्री की समस्याओं को सुनने को भी तैयार नहीं था। ऐसे में भिखारी जब समाज में स्त्री के प्रति होनेवाले अत्याचारों और समस्याओं के खिलाफ आवाज उठा रहे थे तो लोग उनका सामाजिक बहिष्कार कर रहे थे। कई जगह उनके नाच को उपद्रवियों द्वारा बंद करवा रहे थे। उनकी नजर में भिखारी समाज को बिगाड़ रहे थे। इस संदर्भ में समाज में स्त्रियों की हालत को समझा जा सकता है।

(4) भिखारी के नाच को लेकर समाज में जो उपेक्षा का भाव था उसके कारण वो अपनी कला की नई पौध तैयार नहीं कर पाए। एक कलाकार अपनी कला को मरते नहीं देख सकता, किंतु भिखारी ठाकुर को देखना पड़ा। अपनी आंखों के सामने अपने नृत्य दल के बिखराव को देखते हुए अंदर ही अंदर घुलते रहे। एक कलाकार के स्तर पर किए जा रहे संघर्ष में यह संदर्भ भी उल्लेखनीय है।

(5) एक कलाकार के स्तर पर भिखारी ठाकुर को परंपरागत लोक नाट्य शैली से भी संघर्ष करना पड़ा और उसमें समानांतर अपनी पहचान बनानी पड़ी। नाच में मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं किया। अश्लीलता का दर्शन किसी भी तमाशे में नहीं दिखाई देता। मर्यादित रूप में अपनी बात जन–जन तक पहुँचाई। उस समय रामलीला, रासलीला, जात्रा, नौटंकी आदि लोकप्रिय नाट्य रूपों का बोलबाला था। भिखारी ठाकुर ने उन सबों को जोड़कर

एक नया रूप तैयार किया। एक कलाकार की इसी आंतरिक और बाह्य जद्दोजहद का नतीजा था 'विदेसिया' जिसकी पूरे प्रांत में धूम मच गई थी।

संजीव ने ग्रामीण जीवन को निकट से देखा है इसीलिए 'सूत्रधार' में 'ग्रामीण चित्रण' सजीवता के साथ हुआ है। बचपन में संजीव ने भिखारी ठाकुर का नाच देखा था। ग्रामोफोन पर 'विदेसिया' के रेकार्ड भी सुने थे। संजीव ने बक़लमखुद लिखा है – "मैं 'प्रवास की पीड़ा' के जिस विषय पर काम करना चाह रहा था, उसे महेन्दर मिसिर के गीतों और भिखारी के नाच ने पहले से ही उपजीव्य बना रखा था। संगठक, लेखक, बहुरंगी अभिनेता (अभिनेत्री भी) गायक, नर्तक, मूलगैन, सूत्रधार सब कुछ एक ही व्यक्ति। जातिगत द्वेष के शिकार होते हुए भी अपनी तमाम हीनताओं को मुंह चिढ़ाते हुए आगे ही आगे बढ़ता कलाकार! जितना ही सोचता, उतने ही महत्वपूर्ण होते गए भिखारी मेरे लिए।"[1]

भिखारी की नाच और 'विदेसिया' से परिचय के बावजूद संजीव के सामने पहली चुनौती थी भिखारी ठाकुर की बीस से अधिक पोथियों और उनकी प्रामाणिक जीवनी हासिल करना। दूसरी चुनौती थी उनके देश–काल को पकड़ना। भिखारी–साहित्य पर निबंध–प्रबंध और समीक्षाएँ तो ढेरों थी, मगर जो नहीं था, वह था उनका जीवनवृत्त और उनकी ज्यादातर रचनाएँ। संजीव को कई बार अकेले और कई बार मित्रों के साथ यात्राएँ करनी पड़ी। जितने लोगों से पूछते उतनी ही नई बातें सामने आतीं। दूसरा व्यक्ति जो बताता, वह पहले व्यक्ति की सूचनाओं से भिन्न होती थी। कोई उन्हें समलैंगिकता का उद्गाता बताता तो कोई बुद्ध या कबीर साहब का अवतार! इस क्रम में सामग्री संग्रहीत होती चली गई।

संग्रहीत सामग्री में सत्य का संधान करना आसान काम न था। यह काम वैसा ही था जैसे तेजी से फॉसिल होते जा रहे तथ्यों से धातु का शोधन करना। जैसे–जैसे वे आगे बढ़ते गए नयी–नयी चीजें हाथ लगती गयीं और लेखकीय आत्मविश्वास बढ़ता गया। अब मुश्किल यह थी कि सारी सूचनाओं में से क्या लिया जाए और क्या छोड़ा जाए। संजीव इसका जिक्र करते हुए कहते हैं – "जीवनी लिखना इससे कहीं सरल कार्य होता, कारण तब आप परस्पर विरोधी

दावों के तथ्यों का उल्लेख कर छुट्टी पा सकते हैं। जीवनीपरक उपन्यास में आपको औपन्यासिक प्रवाह बनाते हुए किसी मुहाने तक पहुँचना ही पड़ता है। यहाँ द्वन्द्व और द्विधा की कोई गुंजाइश नहीं होती। दूसरी ओर, उपन्यास लिखना भी जीवनीपरक उपन्यास लिखने के मुकाबले सरल होता है, कारण, आप तथ्यों से बँधे हुए नहीं होते। यहाँ दोनों ही सुविधाएँ न थीं। भिखारी ठाकुर तीस वर्ष पहले तक जीवित थे, उन्हें देखने और जानने वाले लोग अभी भी हैं। सत्य आग्रहों के बीच उलझा हुआ था और भिखारी 'लीजेंड' बनते जा रहे थे मगर सत्य और तथ्य के ज्यादा करीब पहुँचना मेरी रचनात्मक निष्ठा के लिए जरूरी था।[2]

संजीव के सामने दूसरी चुनौती भाषा की थी। उपन्यास हिंदी में लिखा जाना था जबकि उपन्यास नायक भिखारी ठाकुर की भाषा भोजपुरी थी। न तो ठेठ हिंदी उपयुक्त थी और न ठेठ भोजपुरी। अतः संजीव ने दोनों का समंजन करना उचित समझा। भिखारी ठाकुर की रचनाओं में प्रयुक्त भोजपुरी भाषा को संजीव ने पकड़ा और हिंदी के साथ मिलाकर पेश कर दिया।

संजीव के सामने तीसरी चुनौती देश, काल, पात्र की थी। उन्होंने उन्हीं घटनाओं और उन्हीं पात्रों को चुना जो भिखारी के व्यक्तित्व–कृतित्व को सक्षम ढंग से ध्वनित, चित्रायित और रूपायित कर सकते थे, और उस देश–काल के मन–मिजाज, बोली बानी पर तरह–तरह से जाँच–पड़ताल की। इतिहास, भूगोल, उम्र और काल के चार्ट भी बनाए ताकि उनकी संगति बैठाने में कोई भूल न हो जाए। संजीव ने लिखा है –

"कभी लगा कि ब्राह्मण विरोध का सवर्ण विरोध कुछ ज्यादा हो गया तो उसे मैंने उनकी रचनाओं के आइने में तथा भिखारी की जगह स्वयं को रखकर जाँचा। सवाल सीधे–सीधे सबआल्टर्न का नहीं था, नारी मुक्ति का भी नहीं, नवजागरण का भी नहीं, पराधीन भारत के भोजपुरी अँचल के सांस्कृतिक मिजाज का भी था। लेकिन एक भिखारी ठाकुर को उठाते ही सारे के सारे सवाल कुनमुनाकर ताकने लगे। अब मैं कह सकता हूँ कि वह एक युग था भिखारी में डूबते हुए मैंने इस युग के ताप को काफी कुछ आत्मसात किया।"[3]

संक्रमण और संघात के घटना–बहुल उस युग में गँवई चेतना का एक उभार आया था जिसे प्रायः अनदेखा कर दिया गया। साहित्य, कला और संस्कृति में इस गँवई चेतना के कतिपय ऐसे स्थलों को भी अपना उपजीव्य बनाया, जहाँ हिंदी साहित्य की नजर तक न गयी थी। किसानों की दुर्दशा और गिरमिटिया या प्रवासी भारतीय मजदूरों की पीर तत्कालीन भोजपुरी, अवधी और अन्य लोकभाषाओं में ही सुलभ है। रचना प्रक्रिया रचनाकार को भी पुष्ट करती है। संजीव नेलिखा है कि "अगर मैं यह उपन्यास नहीं लिखता तो उस कालखंड की कतिपय विभूतियों से प्रायः अनजान ही रहता। छपरा की पतुरिया 'गुलाबो', मुजफ्फरपुर की 'ढेला बाई', गीरगंज (गोपालगंज) की ईरानी मूल की बहनें, मुरादाबाद के मास्टर 'फिदा हुसैन नरसी' का युग, बनारस के शंकर डांसर, सीवान के 'रसूल' और दरबारी गिरि, फकुली के 'बसुनायक सिंह', सोहरा के चांदी सिंह और भी जाने कितने ही जगमगाते नक्षत्रों का युग जिनमें से ज्यादातर इतिहास में दर्ज हुए बिना ही अस्त हो गए।" सतह से उठते कलाकार के इसी संलाप ने संजीव को प्रेरणा दी और तैयार हो गया 'सूत्रधार' का कथानक। संजीव की सधी हुई कलम ने भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व को व्यापक फैलाव दिया है और सत्य के कई परतों को खोल कर रख दिया है।

सूत्रधार और ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष :

सन् 1887–1941 ई. के मध्य भारतीय समाज में कई परिवर्तन हुए जिनका संजीव ने 'सूत्रधार' में उल्लेख किया है। राजनीतिक हलचलों के साथ–साथ सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन भी हो रहे थे। जनता का सामाजिक स्तर निम्न से निम्नतर होता जा रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध की भड़कने वाली ज्वालाओं के परिणामस्वरूप आर्थिक दृष्टि से होनेवाले शोषण की प्रक्रिया तीव्र हो रही थी। भिखारी ठाकुर का इलाका आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से अस्तित्वहीनता की स्थिति में था। यूँ तो बिहार में शोषण और उत्पीड़न का इतिहास बड़ा लंबा है। बिहार को सदा से ही गरीब प्रदेश माना जाता रहा है। इस गरीबी के साथ प्रायः जब–तब बाढ़ और भूकंप आदि के प्राकृतिक प्रकोप भी होते रहे हैं। बार–बार तीन नदियों के प्रकोप को सहता हुआ कुतुबपुर गाँव जिंदगी के लिए जद्दोजहद करता

रहता है। बाढ़ की विनाश लीलाएँ शोषित और पीड़ित व्यक्ति को और तोड़ देती हैं। 'सूत्रधार' में वर्णित आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिवर्तनों पर हम आगे क्रमानुसार प्रकाश डालेंगे।

सामाजिक पक्ष :

भिखारी ठाकुर जिस सामाजिक परिवेश में पैदा हुए थे, वह मुख्यतः जातियों एवं वर्गों में विभाजित परिवेश था। भारतीय समाज में जाति–पांति का भेदभाव अकस्मात नहीं पैदा हो गया है, यह एक ऐसी प्रथा है जो वैदिक काल से ही चली आ रही है। सामंती व्यवस्था के काल में यह प्रथा और भी पुष्ट होती चली गई। भारत में सामंती व्यवस्था का ढांचा जिस क्षेत्र में जितना मजबूत रहा है, वहाँ जाति–पांति का भेदभाव भी उतना ही दृढ़ रहा है। ब्रज की अपेक्षा अवध में, भोजपुरी क्षेत्र की अपेक्षा मिथिला में यह भेदभाव अधिक मिलता है। इसका कारण है – इन क्षेत्रों का सामंती व्यवस्था का गढ़ होना। जाति–पांति भारतीय समाज की ही नहीं, ऐसे प्रत्येक समाज की विशेषता है, जिसका गठन सामंती व्यवस्था के अनुरूप हुआ है।

सामंती व्यवस्था में शोषक और शोषित वर्ग के बीच बड़ा अंतर होता है। हल से होनेवाली खेती से लेकर कताई–बुनाई तक हर उद्योग में शोषित वर्ग का पूरा परिवार शरीक रहता है। पेशा जातिगत ही नहीं होता अपितु वंश परंपरागत होता है। दूसरे शब्दों में पेशे के हिसाब से जातियाँ बनती हैं, पेशे का आधार होता है कुटुम्ब, इसलिए जो जाति पिता की होती है वही पुत्र की होती है। सामंती समाज में जो हाथ से खाने–पहनने की चीजें पैदा नहीं करता वह ऊँचा समझा जाता है। जो हल चलाता है, कपड़े बुनता है, हजामत बनाता है, जूते गाँठता है, कपड़े धोता है, वह नीच समझा जाता है। नीचों द्वारा बनाई गई वस्तुएँ तो ग्राह्य हैं पर बराबरी का दर्जा देना तो दूर उनको छूना या उनसे छू जाना भी पाप है। जहाँ सामंती व्यवस्था ज्यादा दिन तक रही, वहाँ जाति प्रथा की संकीर्णता ने प्रतिभावान होने पर भी निचली जाति में जन्म लेनेवालों को ऊपर उठने नहीं दिया।

भारत में जितने पेशे हैं उससे ज्यादा जातियाँ हैं। इसका कारण यह है कि बहुत से कबीले जाट, गूजर, अहीर इत्यादि – जब वर्णव्यवस्था में शामिल हुए तब अपने पुराने नामों का व्यवहार पहले की तरह करते रहे। जिन–जिन जातियों के नाम पेशे पर पड़े हैं उनमें भी अनेक उपभेद मिलते हैं और इन उपभेदों का भी वही कारण है; कहीं–न–कहीं उपभेदों में उन कबीलों की स्मृति सुरक्षित है, जिससे इन जातियों का निर्माण हुआ है। जातियाँ चाहें कितनी भी हों सामंती समाज में मुख्य भेद ऊँच और नीच का है। खाने–पहनने की वस्तुएँ जुटाते हैं नीच जाति के लोग; उनके परिश्रम से लाभ उठाकर शास्त्र रचने, युद्ध करने और व्यापार करनेवाले होते हैं उच्च वर्ण के लोग। इस वर्ग की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक अस्मिता न थी, सभी शोषण के शिकार थे।

भिखारी ठाकुर के काल में निचली जातियों की कोई स्वतंत्र पहचान न थी। वर्ण व्यवस्था में जातिगत और जन्मगत श्रेष्ठता ही उच्चता और नीचता का मुख्य आधार था। शूद्र जैसी जातियाँ निम्नस्तरीय जीवन जीने के लिए विवश थीं। उस समय समाज एक नई करवट ले रहा था। ब्राह्मणवादी और कर्मकांडी व्यवस्था का विरोध शुरू हो चुका था। परंपरावादी तथा प्रगतिशील शक्तियाँ आपस में संघर्षरत थीं। भू–संपदा के अधिकांश हिस्से पर राजपूत, भूमिहार और कायस्थ जैसी जातियों का अधिकार था। ये जातियाँ बल एवं धन के आधार पर बाकी सभी जातियों का आर्थिक शोषण कर रही थीं। जमींदारी प्रथा अपने उत्कर्ष पर थी और उसके कारण समाज में अत्याचार, अनाचार और उत्पीड़न बढ़ रहा था। समाज का अति उपेक्षित शोषित दलित वर्ग उच्च वर्गों के खिलाफ आवाज उठाने से डरता था। आर्थिक रूप से कमजोर लोग जिनके पास भूमि नहीं थी, ज्यादातर बेगार के शिकार होते थे। कृषि कार्य के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी इस वर्ग के श्रम का शोषण जोर–शोर से चल रहा था।

कुतुबपुर गाँव में कुछ ऐसी जातियाँ भी थीं जो कठिन संघर्षों के बीच अपनी पहचान बनाकर चल रही थीं। जैसे – यादव, कुर्मी, कोईरी, नाई, लोहार और बढ़ई आदि। भिखारी ठाकुर का जन्म नाई जाति में हुआ था। उनका परिवार अत्यंत ही साधारण और आर्थिक रूप से कमजोर था। इस जाति का मुख्य कार्य

था – बाल, दाढ़ी बनाना, निमंत्रण पहुँचाना, जन्म–मुंडन, विवाह, श्राद्ध एवं संस्कारों तथा यज्ञों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों की सेवा करना आदि। जीविका का कोई ठोस आधार न रहने से इस जाति के लोगों को परमुखापेक्षी रहना पड़ता था। यह जाति टहुलाई करके जीवन यापन करती थी। नाई जाति अस्पृश्य नहीं थी। इनका छुआ पानी चलता था। कई संस्कारों में नाई की उपस्थिति आवश्यक थी। जाति प्रथा की जड़ें इतनी गहरी हैं कि व्यक्ति की पहचान व्यक्ति के रूप में नहीं, जाति से होती थी। सभी मनुष्य एक ईश्वर के द्वारा बनाए गए और एक ही विधि से उनका जन्म हुआ फिर यह भेद कहाँ से आया? इस प्रश्न का उत्तर धर्मभीरु समाज धर्म और कर्मकांड की ओट में देता है। सूत्रधार के रामायणी बाबा का प्रवचन इसका अच्छा उदाहरण है –

"ब्रह्म, जीव और माया। बाबा बोल रहे थे; 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी!' सभी प्राणी उसी ईश्वर के अंश हैं, वही जो बड़ा या बृहद करता है – ब्री, हनताद इति ब्रह्मं! तब भी भेद और प्रभेद है। तब भाई लोग, बूझिए कि फरक कहाँ पड़ा। ई छोट–बड़ कैसे भईल भाई! तो सुनिए छोट–बड़ हम और आप नहीं बनाए। ऊपर से ही बन के आया है – करई–करावई भंजई सोई–ओही परमात्मा के छोट बड़ बनावल है, हम आप के हैं? इसमें झूठ तनिको नहीं है। बेद ब्रह्मा जी के मुंह से निकली है, और गोसाईं जी का रामायण पर स्वयं शंकर भगवान का दस्तखत है। ब्रह्म के तीनों महाअंश ब्रह्मा, विष्णु, महेश के बाद और कोई साखी गवाही चाहीं?"[4]

ऊँच नीच के भेद को कितनी आसानी से परमात्मा द्वारा उत्पन्न बताकर रामायणी बाबा भ्रमों को फैला रहे हैं। सामंती व्यवस्था में धर्म की ओट में ऐसे भ्रमों को फैलाकर ही जनता का शोषण किया जा सकता है। उच्च वर्ण वालों को डर है कि कल को अगर नीचि जाति के लोगों में चेतना जाग गयी और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गए तो उनके ऊपर संकट के बादल मँडराने लगेंगे। अतः शासन करने के लिए अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए भ्रमों को फैलाना और उसके पक्ष में तर्कों द्वारा लोगों बरगलाने की कोशिश करना उनका मुख्य ध्येय होता है। पूर्व जन्म की ही कमाई का फल है ऊँच–नीच वर्ण में जन्म लेना –

जिस समाज की ऐसी धारणा है वैसे समाज का विकास अंधकारमय ही हो सकता है।

कुतुबपुर गाँव में मृत्यु के बाद भी जाति नहीं छूटती तभी उच्चवर्ण के लोगों की आत्मा 'ब्रह्म बाबा' बन जाती है। और निम्नवर्ण के लोगों की भूत–पिशाच बनकर मँडराती है – इस तरह की मान्यता बनी हुई है। जाति के साथ–साथ धर्म एक–दूसरे से ऐसे लिपटे हुए हैं कि एक के बिना दूसरे का कार्य संपादित नहीं हो सकता। धार्मिक संस्थाएँ शास्त्रों और प्रवचनों के जरिए जाति में श्रेष्ठता और निम्नता की खाई को और गहरी करती हैं। ऐसा ही एक प्रसंग है – रामलीला के लिए पात्रों का चयन –

"कम उम्र के सलोने लड़कों की खोज की गई। बबनवा, रामनवला, धनी और शिवहरखा – चार नाम आए। इनमें एक कोईरी, एक कुर्मी, एक दुसाध और एक राजपूत। नान्ह जाति के लड़कों को रामानंद सिंह ने एक स्वर में खारिज कर दिया। बाकी बचे धनीसिंह तो उनका चेहरा ही चपाट था।

"ओकरा के तो रावन के पाट दियाई।"

तभी किसी को याद आया कि लाला का लड़का जनार्दन छपरा से पढ़ाई छोड़कर गाँव आया हुआ है!

"सोरह आना!

और सीता के बनेगा?"

"नाचवाला परभुआ।" भगवान साहु ने लिस्ट देखी। रामानंद सिंह की भृकुटी तन गई, "अव्वल तो चमार है दूसरे ऊ अपने रामचंदर जी माने जनार्दन की महतारी लगेगा।"[5]

रामानंद सिंह जैसे सहृदय व्यक्ति भी व्यावहारिकता के धरातल पर खरे नहीं उतरते। नान्ह जाति के लोगों को इतना हेय समझा गया कि विभिन्न पात्रों में सटीक बैठने पर भी जाति के आधार पर उन्हें खारिज कर दिया गया। मनोरंजन के साधनों (नाटक, नृत्य, गीत आदि) में भी जाति का इतना गहरा असर है कि

पात्रों की जाति ही महत्वपूर्ण है। राम, सीता के अभिनय का अधिकार सिर्फ उच्चवर्ग को ही प्राप्त होता है और निम्नवर्गीय पात्र इस अधिकार से वंचित हैं।

शिवकली देवी एवं दलसिंगार ठाकुर के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भिखारी पड़ना अनायास ही नहीं है, यह तत्कालीन सामाजिक संरचना के सत्तामूलक पहलू को उजागर करता है। सामाजिक स्थिति के अनुसार नाम रखने की भी विवशता है। अच्छे–अच्छे नाम उच्च जाति के लोगों को शोभा देते हैं और नाम चाहे जो हो, यहाँ तो व्यक्ति की पहचान उसकी जाति से ही होती है। आर्थिक रूप से कमजोर और सामाजिक दंश झेल रहे परिवारों के पास इतना वक्त ही कहाँ होता है कि नवजात बेटे के नामकरण पर सिर खपाए या नामकरण संस्कार करा सके। सामाजिक रूढ़ियों के कारण सुंदर नाम नहीं रखा जा सकता, आर्थिक दुर्बलता के कारण नामकरण संस्कार पर पैसे खर्च नहीं किए जा सकते। भिखारी की पहली पहचान एक बालक के रूप में न होकर, एक 'नउवा' के रूप में होती है। भिखारी ठाकुर के ही हमउम्र तथाकथित उच्च जाति के बच्चों में कच्ची उम्र से ही भेद–भाव वाली बात बिठा दी गई है। तभी तो ये चौंक कर कहते हैं –

ई को ह–अ रे?

नउवा!

"नऊआ.....? इ हो पढ़ेगा? पढ़–लिख के तें का करेगा रे?"

"नौवा कौव, बार बनौवा।" और तरह–तरह की अश्लील टिप्पणियाँ

"हजमत के बनाई?"

"नहरनी ले ले बाड़े, तनी नह काट दो।"[6]

भिखारी के पढ़ने पर उच्च वर्ग के बच्चों को आपत्ति है। इस आपत्ति का मुख्य कारण है – उन्हें अपने अस्तित्व पर खतरा महसूस हो रहा है। पढ़–लिखकर भिखारी जैसे लोग अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गए तो आवाज उठा सकते हैं, प्रदत्त पहचान को ठुकराने की कोशिश कर सकते हैं। समाज द्वारा पूर्व निर्धारित कर्मों को छोड़कर अपने सामर्थ्य और प्रतिभा के बल पर इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं।

ग़ौरतलब है कि भिखारी ठाकुर के समय के समाज में बदलाव की कुछ–कुछ सुगबुगाहट शुरू हो चुकी थी। जाति प्रथा के शोषणमूलक चरित्र की भूमिका को निम्न वर्ग ने नकारना शुरू कर दिया था। अपने ऊपर नित्य होनेवाले शोषण का बोध उन्हें होने लगा था। यह सुगबुगाहट साफ तौर पर सूत्रधार के इस प्रसंग में वर्णित है।

भिखारी के मित्र भगवान साहु भिखारी से कहते हैं –

"नान्ह जातिन के अलग से पाठशाला होखे के चाहीं।"। इस पर सहमति जताते हुए घुलेटन कहता है – हाँ और ओकरा में पंडी जी ना, नान्हे जाति के मास्टर।"[7]

संयुक्त परिवार :

भिखारीकालीन समाज में संयुक्त परिवार की परंपरा थी। एक व्यक्ति के सभी बच्चे, भाई–भतीजे, दादा–दादी आदि एक साथ ही घर में रहते थे। परिवार का सबसे अधिक उम्र का व्यक्ति मुखिया होता था जिसकी देख–रेख में परिवार के सभी लोग चलते थे। परिवार के मुखिया का परिवार के हर सदस्य पर कड़ा नियंत्रण था। परिवार के सदस्यों द्वारा जो आय होती थी उसको एकत्रित कर मुखिया को सौंप दिया जाता था। संयुक्त परिवार का संचालन मुख्य रूप से परिवार के मुखिया पर निर्भर करता था।

"वही बाप जिसने पढ़ाई छुड़वा कर गोचाहा' में उसे गाय चराने को भेजा था, अब उससे वही चरवाही छुड़ा कर हज्जामी में ठेल रहा था, "एक सवांग और हो जाने से सुविधा हो जाएगी, सो नहीं चार–गो गाय लेकर दिन–भर दीयर में दिन बिता देगा, सबेरे–शाम भोजन तो मिलना ही है।"[8]

परिवार के सदस्यों को कब क्या करना चाहिए यह परिवार का मुखिया ही निर्धारित करता था। उपरोक्त प्रसंग में दलसिंगार ठाकुर अपने पुत्र को आदेश देते हुए उसके कार्य का निर्धारण कर रहे हैं। परिवार में स्त्रियों की स्थिति नगण्य थी। उन्हें केवल चारदीवारी के अंदर ही कैद कर रखा जाता था पारिवारिक मामलों में उनका हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं था।

"मनतुरना देवी का अभिमान और अपमान भरा चेहरा फूला रहा। बोली नहीं कुछ, अँधेरे में कुछ दिखता नहीं। भिखारी ने समझा कि दिन–भर की थकी मांदी सो गई बेचारी। लौटने को हुए कि अचानक उसने उसके सीने में सिर गड़ा दिया और जोर–जोर से लगी सुसुकने।

"अपना नाचदल बनाकर हमने कोई पाप नहीं किया, तोहार किरिया।"

"तुम्हें जो अच्छा लगे, करो।" पत्नी ने आँसुओं भरा चेहरा ऊपर उठाया, 'हियाँ, तो मेहरारू से पूछने का रिवाज ही नहीं है।"[9]

संयुक्त परिवार में नारी की स्थिति :

उस समाज में सबसे उपेक्षित तबका शूद्रों और नारियों का था। संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था में तो नारी को सबसे अधिक शोषण का शिकार होना पड़ता था। परंपरा और पति परमेश्वर की भावना उसमें शुरू से ही डाल दी जाती थी ताकि वह एक प्रकार के भ्रम में स्वयं को भुलाए रखे। व्यवस्था की बेड़ियों में नारी ऐसी जकड़ी हुई थी कि उसे अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों का आभास तक नहीं था। अतः पिता, भाई, पति, ससुर, पुत्र के संरक्षण में उसका जीवन यापन होता था। उसके जीवन की डोर पुरुषों के हाथ में थी, निर्णय लेने का अधिकार उन्हें नहीं था। वे परदे के पीछे ही रहती थीं और घरेलू कार्यों में अपना सारा जीवन बिता देती थी। स्त्रियों के सारे कार्य चारदीवारी के अंदर ही संपादित होते थे। निम्नवर्ग के परिवारों की स्त्रियों की स्थिति उच्च वर्ग की स्त्रियों से बेहतर थी। वे घर की चारदीवारी तक सीमित नहीं थीं। कभी–कभी पारिवारिक मामलों में भी उनका हस्तक्षेप होता था। मेहनत–मजदूरी करने के लिए वे घर से बाहर आती थीं और पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम किया करती थीं। घर से बाहर निकलना उनकी मजबूरी थी क्योंकि पुरुष की आय पर्याप्त नहीं होने के कारण उन्हें हाथ बँटाना पड़ता था। भारतीय समाज के अनेक कार्य नाइन के बिना संपन्न ही नहीं हो सकते। अनेक संस्कारों – शादी–ब्याह, पूजन, मुंडन, जन्म–मृत्यु आदि में नाई के साथ–साथ नाईन की उपस्थिति भी अनिवार्य थी। उच्च वर्ग की स्त्री हो या निम्न वर्ग की स्त्री उनका शोषण होता ही था। नारी को सबसे अधिक शोषण का शिकार होना पड़ता है फिर भी इस व्यवस्था के खिलाफ वे अपनी आवाज नहीं

उठाती हैं। अगर वह आवाज उठाती भी है तो भाई, माता–पिता, पति के उपकार, कुल की मर्यादा, गत की महत्ता और आगत की सम्मिलित शक्ति के सपने–जाने कितनी दीवारें रास्ते में आ खड़ी होती थीं। उसकी कोमल भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने के लिए युग–युग से जो पाठ पढ़ाया गया था, वह उसे सती प्रथा बंद होने के बाद भी सती, पुरुष के साधुता छोड़ देनेपर भी साध्वी और पति के कर्त्तव्यच्युत होने के बाद भी पतिव्रता बनाए रखती थी। इस परंपरागत स्थिति को वहन करने में पत्नी पति की प्रत्येक उपेक्षा और अपमान को उसका प्रसाद समझ कर ग्रहण करती थी। 'सूत्रधार' में वर्णित धनी सिंह की स्त्री की स्थिति कुछ ऐसी ही मानसिकता को दर्शाती है। वह परंपरा से विद्रोह नहीं कर पाती और घुट–घुट कर जीने को विवश है। पति के पर–स्त्री से संबंध रखने पर भी वह विरोध नहीं कर पाती क्योंकि परंपरा से ही उसे पतिव्रता होने के संस्कार मिले हैं। वह अपने जीवन–यापन की सुरक्षा के लिए पति के अत्याचारों को सहर्ष स्वीकार कर लेती है। पति की उपेक्षा के बावजूद उसकी सेवा में कोताही नहीं बरतती और आदर्श पत्नी के भुलावे में जीती है।

संयुक्त परिवारों में पति किसी न किसी बात पर स्त्री को पीट सकता था क्योंकि स्त्री पर नियंत्रण का उसे अधिकार था। पति–पत्नी के बीच विचार–वैषम्य या पारिवारिक मामलों में स्त्री का हस्तक्षेप जैसी बातें कलह का कारण बन जाती थी और ऐसे मौकों पर पति द्वारा पत्नी की पिटाई आम बात होती थी।

नारी जीवन से संबंधित अन्य समस्याएँ :

(अ) दहेज की समस्या :

तत्कालीन समाज में दहेज एक बहुत बड़ी समस्या थी जो आज भी अपने पूर्ववत रूप में विद्यमान है। विवाह के समय वर पक्ष के द्वारा माँगी जानेवाली राशि या सामान ही दहेज कहलाती है। घर में लड़की का जन्म होना चिंता का कारण समझा जाता था। लड़की का विवाह एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था क्योंकि विवाह के लिए कई जगह भटकना पड़ता था। अच्छा रिश्ता, घर–द्वार मिलने पर अर्थ की कमी आड़े आती थी। फलस्वरूप कन्या के विवाह के लिए महाजन से

ऋण लेना पड़ता था और पूरा परिवार कर्ज में डूब जाता था। दहेज की समस्या से ही अनमेल विवाह की समस्या का जन्म होता है।

(ब) अनमेल विवाह और कन्या–विक्रय की समस्या :

आर्थिक पराधीनता के कारण ही समाज में दोहरी नैतिकता का जन्म होता है। स्त्रियों के लिए एक कानून है, पुरुषों के लिए दूसरा। पुरुष विधुर हो जाए तो दूसरा विवाह कर सकता था, विधुर हुए बिना भी दूसरा विवाह कर सकता था और संपन्न हुआ तो रखैलों और वेश्याओं की कमी न थी। वह लड़कियों का क्रय कर सकता था। इसी के परिणामस्वरूप 'सूत्रधार' में वर्णित बबुनी का विवाह अपने उम्र से तिगुने बड़े व्यक्ति के साथ हो जाता है। बबुनी के माता–पिता पैसे लेकर अपना भार तो उतारते ही हैं आर्थिक संकट से भी उबर जाते हैं। महाजन का कर्ज चुका देते हैं। साथ ही पुत्री का विवाह कर अपने कर्त्तव्य की खानापूर्ति कर देते हैं। उस समाज में ऐसी कई बबुनियाँ थीं जिन्हें अपने जीवन की डोर अपने से तिगुने उम्र के व्यक्ति के हाथों सौंपनी पड़ती थी। बबुनी जैसी स्त्रियों को अपने जीवन का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय लेने की छूट नहीं थी। आर्थिक तंगी के नाम पर लड़कियों को अनमेल विवाह के लिए विवश होना पड़ता था, जिसका प्रभाव उनके आनेवाले जीवन पर भी पड़ता था। उनका भविष्य भी असुरक्षित सिद्ध होता था। अतः उनकी योग्यता और उम्र के अनुरूप न तो उन्हें वर मिलता है और न ही सुखद भविष्य। वे तिल–तिल कर शोषण को सहती हुई जीवन–यापन करने को मजबूर थीं।

(स) परस्त्रीगामिता :

पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्रियों और पुरुषों के बीच छोटे–बड़े का भेद व्याप्त होता है। संपत्ति का स्वामी पुरुष होता है अतः उसे पूरी आजादी है कि वह उस संपत्ति को कैसे भी खर्च करे। निम्न जातियों में, जहाँ स्त्री–पुरुष के साथ काम करती है, वह उच्च वर्ग की स्त्रियों की तुलना में अधिक समर्थ होती हैं। स्त्रियों को उनके आर्थिक अधिकारों से वंचित करके रखा गया है अतः वह कोई भी निर्णय लेने में हिचकती हैं। पुरुष के साधुता छोड़ देने पर भी साधवी और पतिव्रता बनी रहेगी। पति के पर–स्त्री से संबंध रखने पर भी वह किसी पर–पुरुष की तरफ आँख उठाकर नहीं देख सकती थी क्योंकि परंपरा से उसे पतिव्रता होने

के संस्कार मिले थे। नारी के लिए पति के विरोध की बात सोचना भी पाप कर्म समझा जाता था। पत्नी द्वारा पर–पुरुषगमन की स्थिति उसे समाज में 'कुल्टा' का दरजा दिलाता था किंतु भिखारी ठाकुर के समय का समाज थोड़ा उदार था। यद्यपि यौन संबंधों में इतनी स्वच्छंदता स्वीकार्य नहीं थी, किंतु इन संबंधों के प्रति एक उदार रवैया जरूर अपनाया जा रहा था। पति के प्रवासी हो जाने पर मातृत्व के लिए कुछ स्त्रियाँ ऐसा कर सकती थीं। भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध नाटक 'गबरधिचोर' में 'गलीज बहु' ने अपने पड़ोसी गड़बड़ी से संबंध बनाया है।

"पति परदेश से लौटकर देखता है कि लड़का हुआ है। पति को अच्छा तो नहीं लगता, मगर इस बात से उसे राहत है कि चलो बंशबेलि तो पनपी, वरना गोतिया–दयाद लोग कम हरामी नहीं हैं, जो भी दो–चार कट्ठे जमीन है, कब्जिया लेंगे।"[10]

निम्न वर्ग के पुरुषों का शोषण राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर होता है किंतु निम्नवर्गीय स्त्री का शोषण तो दैहिक स्तर पर भी होता है। उच्च वर्गवाले, निम्नवर्ण की स्त्रियों से शारीरिक संबंध तो स्थापित कर लेते हैं किंतु रोटी–बेटी का संबंध बनाने के समय वे पीछे हट जाते हैं तथा धर्म की आड़ में स्वयं को बचा ले जाते हैं। 'सूत्रधार' में वर्णित धनी सिंह का परस्त्रीगामी होना और एक निम्नवर्गीय स्त्री को रखैल के रूप में घर बैठा लेना ऐसा ही सोच को प्रदर्शित करता है। वैसे ऐसा प्रसंग सिर्फ 'सूत्रधार' में ही वर्णित नहीं है। भिखारी ठाकुर के समय में लिखे गए अन्य उपन्यासों में भी ऐसे प्रसंग देखे जा सकते हैं। कन्नड़ के चर्चित उपन्यासकार यू. आर. अनंतमूर्ति के प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' में भी ऐसे ही एक प्रसंग का वर्णन है –

"श्रीपति ने धोती बांधी। अंगवस्त्र पहना। जेब से कंघी निकालकर बाल सँवारे। टार्च जलाकर देखा और फिर जल्दी से भाग निकला। बेल्ली केवल साथ सोने के लिए ही ठीक थी, बातें करने के लिए नहीं।"[11]

श्रीपति नाम का ब्राह्मण बेल्ली नामक शूद्रा स्त्री से शारीरिक संबंध तो स्थापित करता है परंतु न तो उसे स्वीकार करता है और न ही सामाजिक मान्यता देता है। उसके लिए निम्नवर्गीय नारी सिर्फ भोग की वस्तु है। गौरतलब है कि

श्रीपति ही ऐसा नहीं कर रहा बल्कि मुंशी प्रेमचंद के कालजयी उपन्यास 'गोदान' का मातादीन भी सिलिया के साथ ऐसा ही करता है।

भोजपुरी क्षेत्र में आर्थिक रूप से कमजोर परिवार का सदस्य अर्थोपार्जन के लिए कलकत्ता, आसाम, दार्जिलिंग, कोइलरी, आसनसोल, धनबाद आदि जगहों पर जाता है। प्रवासी होने पर अपनी यौन इच्छा की पूर्ति के लिए वह वेश्याओं की ओर चल पड़ता है। पास में दो पैसे हो जाने से अपनी इस जरूरत को भी वे आसानी से पूर्ण कर लेते हैं, बाद में यही आदत उन्हें रखैल रखने को उकसाती है। अपना सबकुछ भूलकर वह रखैल के साथ ही जीवन यापन करने लगतां है और पत्नी तथा परिवार के अन्य सदस्यों को भूल जाता है। उसकी पत्नी और परिवार को भोजन के लाले पड़ जाते हैं और किसी तरह वे अपना जीवन गुजारते हैं। अतः परस्त्रीगामिता के भंयकर परिणाम सामने आते हैं जिनसे एक नहीं कई जिंदगियाँ तबाह होती हैं।

(द) विधवाओं की स्थिति :

समाज में विधवाओं की स्थिति बहुत दयनीय थी। आर्थिक तंगी के कारण पैसे लेकर कन्या का विक्रय करने अथवा बालिका का विवाह किसी अधेड़ उम्र के पुरुष से कर देने के कारण पुरुष की मृत्यु जल्दी हो जाती थी। अतः पत्नी को जीवन भर वैधव्य का भार झेलना पड़ता था। विधवा का शेष जीवन समाज के कड़े नियंत्रण में बीतता था। वह न तो रंगीन वस्त्र पहन सकती थी और न ही किसी प्रकार का साज–श्रृंगार कर सकती थी। पारिवारिक, सामाजिक उत्सवों में भाग लेना उसके लिए वर्ज्य कर दिया गया था।

"सारे बाल छिल जाने पर सफेद कपड़ों में कैसी लग रही थी वह औरत! एक बार देखा, पीले गोरे मुखड़े पर छिली लटों की सफेद, काली–काली बरौनियाँ, आँसुओं से चिपचिपाई पलकें और हिचकियों में खिंचता गला..."[12]

विधवाओं को सांसारिकता से विमुख रहने की सलाह दी जाती तथा उनके लिए भगवान की भक्ति में रत रहने का विधान बना दिया गया था। बाल–विधवाओं की संख्या ज्यादा थीं। उन्हें संपत्ति रखने के अधिकार से वंचित

कर दिया जाता था और भरन–पोषण का भार संबंधियों को सौंप दिया जाता था। उनके पुनर्विवाह की तो बात ही नहीं उठती थी। विधवा स्त्री से समाज यह चाहता था कि मृत पति को याद करते हुए वह अपना शेष जीवन बिता दें।

संयुक्त परिवार का विघटन :

नवजागरण का प्रभाव धीरे–धीरे गाँवों तक पहुँचने लगा था। शिक्षा के प्रसार के साथ–साथ परिवार के संरचनात्मक ढाँचे में भी परिवर्तन होने लगे थे। यहीं से संयुक्त परिवारों के विघटन की प्रक्रिया प्रांरभ हुई। यह प्रक्रिया मूलतः स्वार्थ से प्रेरित होकर ही शुरू हुई। आपसी समझदारी तथा एक–दूसरे पर अविश्वास की भावना ने इसे जन्म दिया। तत्कालीन समाज में ऐसे कई मुद्दे थे जो परिवार के विघटन में मुख्य भूमिका निभाते थे, जैसे – भाई–भाई में मतभेद, पिता–पुत्र में मतभेद, देवरानियों–जेठानियों में कलह, गोतियों तथा पट्टीदारों की संपत्ति (खेत, धन, आभूषण आदि) हथियाने की प्रवृत्ति और परिवार के आंतरिक मामलों में बाहरी व्यक्ति का हस्तक्षेप आदि। आर्थिक संकट की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका थी। संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या ज्यादा होती है। आर्थिक संघर्ष के कारण संयुक्त परिवार में दरार आने लगी थी। पहले जहाँ एक व्यक्ति के कमाने से ही पूरे परिवार का भरन–पोषण हो जाता था। वहाँ अब घर को चलाने के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को कार्य करने की आवश्यकता होने लगी। वैयक्तिक स्वतंत्रता की भावना ने भी इसे बढ़ावा दिया। अभिरूचियों तथा उनको पूरा करने की आकांक्षा बलवती हुई। नई पीढ़ी पुराने पीढ़ी से कई बातों में मतभेद रखती थी। अतः बार–बार टकरार होती ही रहती थी।

संयुक्त परिवार प्रथा का सबसे बड़ा लाभ वृद्ध तथा असहाय व्यक्तियों को था, अतः इसके विघटन से सबसे ज्यादा प्रभावित भी पुरानी पीढ़ी ही हुई। माँ–बाप अपने बच्चों को इसी आशा में पालते हैं कि वृद्धावस्था में वे उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे। मगर हकीकत इसके विपरीत होती है।

"दलान की कोठरी में दो बूढ़े थे, उन्हें बार–बार दिशा–फराकत लगी रहती थी और वे चिचियाते रहते, मगर उन्हें कोई न देखता। औरतें अपनी ही चुहुल में

मस्त। बाबा ही उनकी देखभाल कर रहे थे। अपने–अपने संस्मरणों का पिटारा खोल लिया था उन्होंने, अपने जमाने के अपनी चालाकी और बहादुरी के किस्से! नौकरों को जिस उपेक्षा से खाना दिया जाता है, लगभग उसी ढंग से खाना आया बूढ़ों का।"[13]

सामान्यतः पिता अपनी संतान के बारे में पहले से ही कुछ धारणाएँ बनाकर उन्हें अपने अनुसार चलाने का प्रयास करते हैं। संतान इन विचारों तथा अपनी रूचियों में संगति न पाकर अभिभावकों का विरोध कर देती है। आर्थिक अभावों के कारण भी संतानों ने वृद्ध माता–पिता को घर में उस तरह का आश्रय नहीं दिया, जैसी उन्हें आशा थी। माँ–बाप की यह इच्छा रहती है कि जब तक वे जिंदा रहें तब तक उनकी संतानें मिल–जुलकर प्रेम से रहें लेकिन कई मामलों में ऐसा नहीं हुआ। लोक–लाज के डर से कुछ दिन तक साथ रहें भी तो उनका आपसी झगड़ा खत्म नहीं हुआ। संयुक्त परिवार में विघटन का प्रमुख कारण पुरानी तथा नयी पीढ़ी की वैचारिकता में अंतर भी है। पीढ़ियों का यह संघर्ष केवल व्यक्तियों का संघर्ष नहीं है, मान्यताओं और मूल्यों का संघर्ष भी है। पुरानी पीढ़ी नैतिकता और आकांक्षाओं को लेकर अपने–अपने लिए जो बंद घेरे बना लेती है उससे वे एक–दूसरे के लिए इतने संदर्भहीन, निरर्थक और निर्मूल हो जाते हैं कि यथार्थ को समझ ही नहीं पाते।

नशाखोरी और वेश्यावृत्ति :

ग्रामीण जीवन की आर्थिक तंगी से ऊबकर लोगों ने शहरों (कलकत्ता, धनबाद जैसे औद्योगिक शहरों) की ओर जानां प्रारंभ किया। परंतु वहाँ जाकर मनुष्य अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि से कटता जाता है। शहर की चकाचौंध में उसका विवेक खो जाता है। श्रम के चार पैसे कमाकर वह घर नहीं भेजता बल्कि नई जगह आकर कभी उन पैसों से शराब पीता है तो कभी शबाब पर खर्च करता है। शहर में हर चीज बिकाऊ है समान से लेकर स्त्री तक। वेश्यावृत्ति शहरों की मुख्य

समस्या है। शहर में आकर व्यक्ति का नैतिक पतन होने लगता है जिसकी वजह से ढेर सारी कुप्रवृत्तियाँ व्यक्ति के अंदर जन्म लेने लगती हैं।

राजनैतिक पक्ष :

अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की राजनीति अपनाई थी। भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह कमजोर कर दिया गया था। भारतीय कुटीर उद्योग, शिल्प सबकुछ नष्ट–भ्रष्ट किया जा रहा था। भारत के कच्चे माल को ब्रिटेन भेजा जाता था। वहाँ से तैयार माल भारत के बाजारों में खपाया जाता था। अतः भारत में बाजार और व्यापार की व्यवस्था लगभग ठप्प हो चुकी थी। फलवरूप कृषि पर अतिरिक्त बोझ बढ़ता जा रहा था। भारतीय कृषि भी पूरी तरह से परंपरावादी और प्रकृति पर निर्भर थी। साथ ही साथ समय–समय पर प्रकृति भी अपना कहर बरपा देती थी। अतिवृष्टि, बाढ़, अकाल जैसी प्राकृतिक आपदाओं से जन–जीवन सदा त्रस्त रहता था।

एक तरफ तो अंग्रेज भारतीयों का शोषण कर रहे थे, वहीं विकास के नाम पर संचार व्यवस्था (रेल, डाक, तार) की स्थापना द्वारा भारतीयों को भ्रम में डाल रहे थे कि वे प्रगति लाना चाह रहे हैं। जगह–जगह कल–कारखानों को खोल कर वे यहाँ के ही सस्ते श्रम से अपना मतलब निकाल रहे थे। भारतीयों का शोषण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो रहा था। भारत में अंग्रेजी राज का कायम होना यदि वास्तव में कोई प्रगतिशील कार्य होता तो देश की दशा ऐसी नहीं होती, गरीब और भी गरीब नहीं होते।

जाति–पांति, ऊँच नीच का भेदभाव मुख्यतः सामंती व्यवस्था में ज्यादा होता है। अंग्रेज सामंती व्यवस्था को बढ़ावा दे रहे थे और उसे अपनी राजसत्ता का मुख्य सामाजिक आधार बना रहे थे। ऐसे में ऊँच–नीच का भेदभाव मिट ही कैसे सकता था। अंग्रेजी राज में सामंती व्यवस्था को नया जीवन प्राप्त हुआ, टूटती हुई सामाजिक रूढ़ियों को फिर से बल मिला। निम्नजाति के लोगों के बेगार से जमींदार लाभ उठाते थे, उधर जमींदारों के संरक्षक थे अंग्रेज अतः ऊँच–नीच के भेदभाव को अंग्रेजों ने और दृढ़ किया। अंग्रेजों के शासन में देशी सामंत और

विदेशी पूँजीपति के दोहरे शोषण से भारत की जनता भयानक रूप से त्रस्त हो गई थी। अंग्रेजों के इस दोहरी शोषण नीति का सर्वाधिक शिकार भारतीय किसान हुआ। अंग्रेजों ने भारत में जमींदारों को जमीन का स्थायी स्वामित्व प्रदान कर दिया और उन्हें किसानों को बेदखल करने का अधिकार दे दिया। पिसते–घुटते और जर्जरित किसानों की व्यथा को सुनने वाला कोई नहीं था।

जमींदारी प्रथा :

अंग्रेजों ने जमींदारी प्रथा को बढ़ावा देकर अपने स्वार्थ की पूर्ति में कोई कसर नहीं छोड़ी और सफल भी हुए। वैसे तो भारतीयों में मुक्ति की छटपटाहट और गुलामी से मुक्त होने के प्रयास चल रहे थे। गाँधीजी के नेतृत्व में देशव्यापी आंदोलन चल रहे थे।

अंग्रेजों ने जमींदारों को जमीन का स्थायी स्वामित्व प्रदान कर दिया। अतः किसानों को बेदखल करने का अधिकार जमींदारों को स्वतः मिल गया। किसानों से जबरदस्ती कर वसूलना और अंग्रेजों के वफादार बने रहना जमींदारों की प्रवृत्ति बन गई। जमींदारों को अपना काम निकालना खूब आता था। वे बल प्रयोग कर या फुसलाकर अपना उल्लू सीधा करते थे। जमींदारों के अत्याचारों के चक्र में फँसकर किसान, हलवाहे और निम्न जाति के लोग त्रस्त रहते थे। नीच जाति कहलाने वाले लोगों को अस्पृश्य मानते हुए भी इनकी सेवा लेने में पीछे नहीं रहते। भीषण गरीबी भोगता हुआ शोषित व्यक्ति कभी भी भू–स्वामियों के चुंगल से निकल नहीं पाता। किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जमींदार अच्छी तरह जानते थे। एक तरफ तो जमींदार वर्ग शक्ति प्रदर्शन कर निरीह लोगों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बनाए रखता था, वहीं अंग्रेजों की चापलूसी से उनके प्रति वफादारी प्रदर्शित करता था। लगान, महसूल, फंड और न जाने कितने नामों से लोगों को लूटते थे और अंग्रेजों के द्वारा दिए जानेवाले पेंशन से शिकार खेलने तीर्थ करने, नाच करने और रंग–रेलियाँ मनाने में इनका जीवन व्यतीत होता था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने पर अंग्रेजों ने भारत को भी उसमें सम्मिलित करना चाहा परंतु भारतीय जनता इसके तीव्र विरोध में थी। अंग्रेजों ने इस बात की परवाह किए बिना कि भारतीय जनता का रूख अनुकूल नहीं है,

भारत को भी उस युद्ध में सम्मिलित कर दिया। अंग्रेजी हुकूमत ने भारतीय प्रतिरक्षा कानून पास किया और रियासतों में राजनीतिक गतिविधियाँ थम–सी गई। अंग्रजों को अपना शुभचिंतक मानकर रियायतों ने अंग्रेजों के प्रति अपनी पूरी निष्ठा बनाए रखी। अतः वार फंड में पैसा देने के लिए जमींदारों में होड़ मच गई। कुतुबपुर जिस रैयत के अधीन था उसके मालिक थे – रामध्यान सिंह। अतः वार फंड में पैसा देकर रायबहादुर की पदवी लेने के लोभ से कैसे स्वयं को बचा पाते। भिखारी ठाकुर के नाच द्वारा पैसा बटोर कर अंग्रेजों को देने की योजना बनाते हैं और भिखारी ठाकुर को बरगलाते हुए कहते हैं –

"खोल के का, पूरा खोल के बतावऽ तानी! देखो भिखारी, वैसे तो अंग्रेज इस मुलुक से इतनी जल्दी जानेवाले नहीं हैं, लेकिन ई बिस्वजुद्ध वाली लड़ाई का कोई ठिकाना नहीं, आज नहीं तो कल बंद होनी ही है। अंग्रेज अगर ई मुलुक से गए भी तो बाद में आगे वही रहेंगे, जो समय रहते आगे की जगह दखलिया लेंगे।"[14]

"ऊ नाच और इ नाच.....? साहब ने तरस खाती नजरों से देखा उन्हें, "उसमें तुम नाचे नहीं थे, नचवाए गए थे, इसमें तुम खुद अपनी मरजी से नाचोगे।" फिर रस–रसाकर राज भरे अंदाज में बोले, "नाचब–अ तो 'राय बहादुर' के खिताब मिली, माने एक कुदान में समुंदर पार! कलक्टर साहब से बात पक्का कर लेहले बानी।"[15]

परिणाम यह हुआ कि भिखारी ठाकुर को वारफंड में चंदा देने के लिए जबरदस्ती नाचना पड़ा। टिकट पर नाच देखने जनता की भीड़ नहीं जुट पायी। अतः रामध्यान सिंह खिन्न हो गए। हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम गिरने के साथ द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति हो गई। उधर रायबहादुर का एक बम कुतुबपुर पर भी गिरा और जनता ने भिखारी ठाकुर को रायबहादुर की पद्वी से नवाजा। इस राजनीति को समझाते हुए जमींदार रामसूरत सिंह भिखारी ठाकुर से कहते हैं – "अरे 'रायबहादुर' की टाइटिल चाहिए थी ठेकेदार साहब को। तुम तो बस एक मोहरा थे, वारफंड के लिए न पूरा पैसा जुटा, न उन्हें रायबहादुरी मिली।" फिर हँसते हुए पलंग पर जा बैठे,

"ऊ रायबहादुर भले ना भइल होखस, लेकिन तू हो गइल–अ।"[16]

रामध्यान सिंह की चाल उलटी पड़ गई और प्रतिभा के बल पर रायबहादुर की टाइटिल जनता ने भिखारी ठाकुर को प्रदान किया। अपने फायदे के लिए जमींदार किस प्रकार तरह–तरह के हत्थकंडे अपनाते हैं इसका खुलासा संजीव ने उपरोक्त प्रसंग के माध्यम से किया है।

प्रतिभा की उपेक्षा :

भिखारी ठाकुर ऐसे परिवेश में थे जहाँ एक खास सीमा के अंदर ही नाट्य रचना की जा सकती थी। सामंती व्यवस्था और अपनी उच्चता के झूठे अहंकार से ओत–प्रोत बबुआन लोग अपनी श्रेष्ठता के प्रदर्शन में डूबे हुए थे। जब एक कलाकार अपनी पलानी में बैठ कर कला के सागर में हिलोरें ले रहा होता है तो बाबू साहबों की दाढ़ी अनायास बढ़ जाती थी। कलाकार को अपनी कलम किनारे रखकर नोहरनी और उस्तरा पकड़कर नाई बनाने पर जबरदस्ती विवश किया जाता है। नान्ह जाति के लोग चाहे कितने भी ज्ञानी क्यों न हों, प्रतिभा में उनकी बराबरी करनेवाला भले कोई न हो, बड़ी जाति के लोगों के लिए उसका सिर्फ एक उपयोग है – उसकी सेवा का उपभोग करना और उससे घृणा करना। उच्च वर्ग की मानसिकता ऐसी है कि अपनी बराबरी का दर्जा तो दे ही नहीं सकते अपितु एक कलाकार के मनोबल को नीचा करने से नहीं चूकते। बार–बार अपनी श्रेष्ठता का झंडा गाड़ते हैं और निम्न जाति के प्रतिभावान व्यक्ति का भी शोषण करने को तत्पर रहते हैं। तरह–तरह की टिप्पणियों द्वारा वे अपनी उच्चता सिद्ध करते हैं – "ठीक है अच्छा नाच–गा लिया अब जरा हजामत तो बना दो।" जहाँ ऐसी मानसिकता काम करेगी वहाँ कलाकार का सही मूल्याँकन नहीं हो सकता। जाति के आधार पर कला की श्रेष्ठता–निकृष्टता को जहाँ बाँटा जाता हो वहाँ कलाकार शोषण का ही शिकार हो सकता है। उच्च समाज की ऐसी मानसिकता प्रतिभा के हनन का विशेष कारण बनती हैं।प्रतिभावान होने के बावजूद अपने तमाम सद्कार्यों में श्रेष्ठ होने तथा चरित्रवान होने के बाद भी भिखारी जैसा कलाकार स्वीकार नहीं किया जाता जबकि महेंद्र मिसिर सिर्फ जातिगत श्रेष्ठता के बल पर, रंडी के कोठे पर बैठने के बावजूद स्वीकार्य हैं। महेंद्र मिसिर की कला के कद्रदानों की कमी

नहीं है। कलाकारों में जाति के आधार पर दोहरा बर्ताव किया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में कोई भी कलाकार आगे नहीं बढ़ सकता किंतु प्रतिभा किसी प्रशंसा की मोहताज नहीं होती। जिस तरह हीरे की चमक को छुपाया नहीं जा सकता उसी तरह भिखारी की कला की प्रसिद्धि को लाख प्रयत्नों के बावजूद छुपाया न जा सका। वे लगातार सफलता के शिखर तक पहुँचते गए।

साहित्यिक राजनीति :

साहित्य के पंडितों को जब अपना सिंहासन हिलते दिखता है तो वे ताबड़–तोड़ हमला करने से बाज नहीं आते हैं। लड़ाई अपनी ही बिरादरी से होती तो और बात थी, यहाँ तो चुनौती देने वाला नीची जाति का व्यक्ति था। नाथ शरण सिंह, महादेवी प्रसाद घनश्याम, लाल चंदगुप्त जैसे लोग अपने तिकड़मों से बाज नहीं आते। भिखारी ठाकुर द्वारा रचित पूरी की पूरी पुस्तक को अपने ही नाम से छपा लेते हैं। जैसे वह उनकी ही मौलिक रचना है। तरह–तरह के हत्थकंडे अपना कर अपने छिछोरेपन पर उतर जाते हैं। जहाँ एक ओर महापंडित 'राहुल सांस्कृतयायन' भिखारी ठाकुर को 'भोजपुरी का शेक्सपियर' कहते हैं तो गणेश चौबे जैसे लोग भिखारी ठाकुर की मौलिकता पर प्रश्न उठाते हैं। मौलिकता की बात करना तो भिखारी ठाकुर की कला को खारिज करने का एक बहाना है। इन साहित्य के पुराधाओं से एक नाई की कला का बख़ान कैसे बरदाश्त होता, अतः चारों तरफ से वे हमले करते नज़र आते हैं।

"ठीक–ए कहते हैं। महेंदर मिसिर की पुरबी के सामने कहाँ टिकती है भिखरिया की पुरबी।"

"अरे अउरो है भाई भिखारी में।"

"अउरो का है – ब्राह्मण निंदा, नाई स्तुति, आपन बखान, अहम् ब्रह्मस्मि। यही सब न!"

"अरे अउरो है भाई!"

"देखिए...." एक दूसरी आवाज उभरती है, "विदेसिया की प्रसिद्ध धुन और रघुबीर सिंह के 'बटोहिया' की धुन एक है। रामसकल पाठक, द्विजराम, दुनिया,

मुनिया बाई का प्यारी सुंदरी, बीसलदेव रासो, नल – दमयंती और भिखारी का विदेसिया – सब एक–ए है।

विद्यापति की 'हम नहिं रहब आजु एहि अँगना।'... और 'बेटी बेचवा' एक है।"

"वही नहीं" एक अन्य आवाज, "गबरधिचोर" और ब्रेख्त का 'काकशियन सर्किल भी एक ही है – मिला के देख न लीजिए।"

"ह नू? तब तो ठीक–ए कहते हैं चौबे जी।"[17]

जिस साहित्य और साहित्यकार को भिखारी के भीतर का कलाकार उच्च मानता था वहाँ भी गंदी राजनीति के दर्शन होते हैं। जिस चीज से (हीनता बोध) बचने के लिए उन्होंने कला की राह पकड़ी, वहाँ भी वही चालाकी, वही जातिवाद का बोलबाला मिला। उच्च जाति के लोगों ने हर क्षेत्र में अपना वर्चस्व बना रखा था। अतः अपने हर क्षेत्र में होनेवाले घुसपैठ पर उनके स्वर का विरोधी होना स्वाभाविक ही था।

साहित्यकारों के साथ–साथ फिल्मी दुनिया के ठेकेदार भी अपनी गतिविधियों से बाज नहीं आए। 'विदेसिया' के नाम से फिल्म बनाई तथा भिखारी ठाकुर के नाम का इस्तेमाल किया। कथानक और गीतों को चुराकर भरपूर मुनाफ़ा कमाया। भिखारी ठाकुर को जाली ड्राफ्ट देकर बुरी तरह ठगा। इस बाजारवादी संस्कृति में कला भी बिकाऊ चीज है यह सिद्ध हो गया।

सांस्कृतिक पक्ष :

भोजपुरी क्षेत्र में धार्मिक एवं सांप्रदायिक मान्यताएँ, विश्वास, परंपराएँ, रूढ़ियाँ, संस्कार आदि अपने पूर्ण रूप में जनमानस में रची–बसी थी। यहाँ सांस्कृतिक एवं लोक–तात्विक चरित्र, वेश–भूषा, राग–रंग, उत्सव त्यौहार आदि अपनी समग्रता और जीवंतता में उपस्थित है। 'सूत्रधार' में वर्णित कुतुबपुर गाँव में जीवन के विविध रंग देखने को मिलते हैं। यह बिहार का ऐसा भू–भाग है जो भौगोलिक रूप से तीन नदियों से घिरा क्षेत्र है। बाढ़ यहाँ हर वर्ष की स्थायी समस्या है। कछार के इस जीवन को, उसके अभावों और समस्याओं को पर्याप्त

आत्मीय रूप में अंकित करने की कोशिश की गई है। सामाजिक विषमता से भरे ग्राम जीवन की सच्ची तस्वीर यहाँ मिल जाती है। उसकी ठेठ देशीयता ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। भले ही कुतुबपुर गाँव पिछड़ा हुआ है, किंतु उसकी जड़ें हैं, परंपरा है, सांस्कृतिक समृद्धि है और सबसे बढ़कर भिखारी ठाकुर जैसे लोक कलाकार की जन्मभूमि और कर्मभूमि है। इन्हीं कारणों से यह गाँव अन्य गाँवों में विशेष है। यह भिन्नता ठोस मानवीय वास्तविकता को उजागर करती है। स्वाधीनता आंदोलन, मुख्य रूप से राजनीतिक होते हुए भी सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक–सभी क्षेत्रों में अलग–अलग तरह के लोगों द्वारा अपनी–अपनी तरह लड़ा जा रहा था। कुतुबपुर के कुछ जागरुक लोग पूरी लड़ाई लड़ रहे थे अपने वर्चस्व को बचाए रखने के लिए सभी क्षेत्रों में अपनी–अपनी तरह से।

लोक संस्कृति :

'सूत्रधार' पूरी तरह से मिट्टी की गंध से सराबोर रचना है। मिट्टी की पहचान के साथ–साथ मिट्टी और मनुष्य से प्रेम की अभिव्यक्ति ही भिखारी ठाकुर को प्रसिद्धि तक पहुँचाती है। यहाँ तरह–तरह की लोक कथाएँ प्रचलित हैं तथा अपने क्षेत्र के गौरवपूर्ण इतिहास पर लोगों को गर्व है। 'सूत्रधार' के वास्तुशिल्प में जो पुरग्राम निवेश है उसमें मूल मेहराबें तथा खंभे हैं – जातिवाद, भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व और परिस्थितियाँ तथा सतह से उठते एक कलाकार का आत्मसंघर्ष। बारहों बरन के लोग गाँव में हैं – राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ, यादव, चमार, बिंद, गोंड, धोबी, दुसाध, नाई, कुम्हार आदि। इसके वास्तुशिल्प में भाँति–भाँति के झरोखे हैं –

दंगल (छपरा में दैंता का दंगल), डोमकच और जलुआ (विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा रचा जानेवाला स्वांग), भजन–कीरतन (एक मठिया में सूरदास का भजन, रामानंद सिंह की बैठकी), लोक कथाएँ (दधीचि, मोरध्वज, ध्रुव, प्रह्लाद), यज्ञ (एकौना का यज्ञ), नाच (धोबी–धोबिन, जाट्ट–जट्टिन, थारु, कुम्हार, अहीर नाच, बंगाल का बाउल, चमार, उड़ीसा का छऊ, भांड, गोंड, खेमटा, नेटुआ, भितुहर, सीढ़ी नाच आदि), लोक गीत (पुरबी, पचरा, शादी–ब्याह के गीत, छठ व्रत

के गीत, विरहा, चैता, जतँसार, सोरठी, चौबोला) भोज, पर्व (छठ, होली, दियरी, भाई दूज आदि), झांकी, रामलीला, बंगाल का जात्रा, सत्संग (फकुली गाँव के बसुनायक सिंह का) मुजरा (आरा के रामाशंकर राय के अहाते में बनारस की बाई जी का), नौटंकी (दहीवाली गुजरिया, सुल्ताना डाकू, श्रवण कुमार) आदि।

कृति की संपूर्ण संरचना में बीजक के पदों, रामायण के पदों तथा कई रसरंग वाले लोकगीतों–लोककथाओं एवं कीर्तनों के भराव हैं जो शिल्पचक्र में आधे–से ज्यादा होंगे। ये मात्र वस्तु के रूपांलकरण ही नहीं हैं बल्कि मौखिक इतिहास तथा लोकयान की वह विरासत हैं जो ग्रामीण भारतीय मानस की उपनिवेशीयता के विरुद्ध कवच बनी रही। इसमें सामंतवाद तथा जातिवाद के खोखले और रूढ़िगत रूपों पर तीव्रता के साथ प्रहार किया गया है। जाति, संप्रदाय पाखंड–अंधविश्वास का विरोध संपूर्णता से हुआ है। सूत्रधार में लेखक बार–बार जातिगत प्रश्नों से टकराता है। लेखक ने व्यक्ति स्वातंत्र्य का पक्ष लेकर सामाजिक जड़ता का घोर विरोध किया है। अतः इस कृति में ग्रामीण लोक–संस्कृति के 'उपनिवेशवादी–सामंती दुश्मन चरित्र' का भरपूर उद्‌घाटन किया है।

जैसे कीचड़ में कमल खिलता है उसी तरह कुतुबपुर गाँव की गरीबी और विषमताओं के बीच लोकगीत, लोक संगीत, लोक नृत्य और लोककथाएँ गूँजती हैं। तमाम विद्रूपताओं के बावजूद जीवन के रंग अपनी पूर्णता के साथ विद्यमान हैं। सुख हो या दुख, आनंद हो या पीड़ा – सबकी अभिव्यक्ति इन्हीं के माध्यम से होती है। लोकसंस्कृति और लोकजीवन की एकाकारिता को संजीव ने लोकगीत, त्यौहारों, नृत्य और संगीत तथा लोककथाओं के साथ अभिन्नता स्थापित करके प्रस्तुत किया है। चरवाही के समय ग्रामीणों में अक्सर गीत गँवनई का दौर चलता है। रस में आकर कोई गमछे का घूँघट बनाकर ठुमकना शुरु कर देता है –

"हम तो नइहर के बानी रसीली

कि लोगवा पागल कहेला ना....।"[18]

यह उपन्यास शहराती जीवन से अलग ठेठ देसी लोक परंपरा, लोकशैली, लोकरस, गंध, स्पर्श, लोक नृत्य, गीत, संगीत आदि विशेषताओं से ओत–प्रोत है। अपनी विविधता और विशेषता के कारण लोक जीवन की जीवतंता को प्रस्तुत करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सूत्रधार में लोक उत्पादनों और वस्तुओं की भरमार के कारण यह हमें लोक संस्कृति की पहचान कराता है।

लोकभाषा :

भोजपुरी क्षेत्रों में बोली जानेवाली भोजपुरी भाषा का महत्व किसी भी भारतीय बोलियों से कम नहीं है। भोजपुरी जिस हिंदी प्रदेश की बोली जानी जाती है वह एक विस्तृत क्षेत्र है। इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार ही नहीं कलकत्ता एवं असम में रहनेवाले वे लोग भी शामिल हैं जो रोजगार की तलाश में वहाँ गए, बल्कि मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम आदि जगहों पर गए लाखों गिरमिटिया मजदूर भी भोजपुरी भाषी ही थे। जिस प्रकार संतरे की हर फाँक में रस भरा होता है उसी प्रकार भोजपुरी भाषा के हर रंग में रस भरा हुआ है। संजीव ने लोक मुहावरों, लोक प्रतीकों का जमकर प्रयोग किया है जैसे –

"फेन सियार ताड़ तर ना जाई।"[19]

आम जन–जीवन में प्रचलित पहेलियों को भी संजीव ने बीच–बीच में स्थान दिया है। जैसे –

"ऊ कौन चीज है, जो दिन–भर बना रहता है, रात को टूट जाता है।"[20]

लोक विमर्श को ग्लोबलाइजेशन के विरुद्ध प्रस्तावित करने और भिखारी ठाकुर के जीवन चरित्र को दर्शाने के लिए, उनकी बोली–बानी परिवेश में जीवंतता लाने के लिए ही भोजपुरी भाषा को देशी रंग दिया गया है। रचना को वास्तविक भाव–भूमि प्रदान करने के लिए लोकभाषा का प्रयोग आवश्यक था।

संजीव ने भोजपुरी का प्रयोग खड़ी हिंदी के साथ मिलकर इतने सधे ढंग से किया है कि वह संप्रेषणीयता को बढ़ा देता है। यह कथा की जरूरत है जो

कि पात्रों की परिवेशगत स्थिति को ध्यान में रखकर लिया गया है। पात्रों के साथ लोक जीवन, लोकभाषा, लोकशैली और लोकपरंपरा एक दूसरे से गुंफित होते हैं, उन्हें अलगाना कठिन है वरना पात्रों की रचना के परिवेश में एक तरह की कृत्रिमता और यॉंत्रिकता हावी हो जाती। राजकुमार जी ने लिखा है –

"स्थानीय भाषा भोजपुरी का उभार उसकी अस्मिता का उभार है जो खड़ी बोली हिंदी (वाद) के नाम पर बने 'नेशनिज्म' को फ्रेक्चर करता है, समस्यामूलक बनाता है। भिखारी ठाकुर का भोजपुरी बोलना कहीं अधिक सारगर्भित और प्रासंगिक है बजाय कि धनिया और झुनिया (गोदान) के विशुद्ध खड़ी बोली में बोलने के।"[21]

हम देखते हैं कि 'सूत्रधार' की भाषा की काया खड़ी बोली की है किंतु उसकी आत्मा भोजपुरी की है। जब कुतुबपुर का कोई ग्रामीण बोलता है तब उसकी बोली में उसका ग्रामॉंचल और उसका निजी व्यक्तित्व दोनों एक साथ ही बोलते हैं :

"बड़का पोथा लिखे के बा नू! गंग में भंग डारि के, तुलसीदास में कालीदास के फेंटि के, सूरदास से कबीरदास के भिड़ा के कविताई करीला, कौनो मजाक है?"[22]

जमुना लबार के इस वक्तव्य में हास्य का रंग भी है और उस क्षेत्र की भाषा भी। संवादों में ही नहीं वर्णनों–विवरणों में भी 'सूत्रधार' की भाषा में देशीपन है। संस्कृत के, खड़ी बोली के और अरबी–फारसी या अंग्रेजी शब्दों को भी सरल तद्भवों में बदला हुआ है जो ग्रामीण बोली में प्रचलित है – तरुआर (तलवार), अंकवार, मुसुरमान, किरिस्तान, घिना (घृणा), नान्ह (छोटा), कोइलौरी (कोइलरी), दहाज; तेलीफूँन, सुरुज (सूर्य), रेलवई, गड़ही (गड्ढा), सिलेमा, समसे (सभी) चिरई, सूप, जांता, डेहरी, ओखरी, मूसल आदि सैकड़ों शब्द। यह तद्भवीकरण उतना संजीव का नहीं जितना ग्रामीणों का अपना। शब्द ही नहीं, उनका प्रयोग भी, लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी, वाक्यों की संरचना भी बोलने की अनुतान भी – संजीव की ग्राममग्नता को प्रमाणित करते हैं।

धार्मिक पाखंड :

भोजपुरी जनपदों में सनातन हिंदु धर्म तथा उसकी संस्थागत जड़ें गहरी जमी हुई थीं। आम जनता की गरीबी, पिछड़ेपन तथा अशिक्षा का लाभ सनातन हिंदू धर्म के ठेकेदार पूरी तरह उठा रहे थे। ब्राह्मणों का समाज के विभिन्न अंगों और संस्कारों पर प्रभुत्व था। लोकसंस्कृति में जो धार्मिक एवं सांप्रदायिक मान्यताएँ, विश्वास, परंपराएँ, रूढ़ियाँ, संस्कार आदि विद्यमान थे उनको बढ़ावा देने में ब्राह्मण वर्ग लगा हुआ था।

'सूत्रधार' के एक विशिष्ट पात्र मिर्चइया बाबा तो अंधविश्वास का रूढ़िवाद और प्रतिक्रियावाद का पुंज है। उनका विश्वास है कि भूकंप कलियुग में पापों के बढ़ जाने के कारण ही आया है। इस प्राकृतिक आपदा के आगमन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं – "काहें ना आई भुईडोल? काहें ना पड़ी अकाल? काहें न पंइठिहें माता माई, काहें न फैली पिलेग?... अरे धरम–करम कोई मानबे नहीं करेगा! कलजुग है, घोर कलजुग! कलजुग में का है तो हम, हमार मेहरारु, हमार लइका–बाचा, बस। एक गो जिमींदार ने का किया तो अपने लवंडे के नाम पर दस बिगहा भुईं लिख दिए – बूझो!"[23]

मिर्चइया बाबा एक अंधे और जड़ संसार का प्रतिनिधि है जिसे ग्रामीण जनता परमज्ञानी मानती है। वैसे तो कुतुबपुर गाँव सैकड़ों अंधविश्वासों भूतो–प्रेतों–जिनों के अस्तित्व को स्वीकार करता है ही, ऊपर से मिर्चइया बाबा जैसे लोग उसे और बढ़ावा देते हैं। रोग होने पर इलाज के लिए डॉक्टर के पास नहीं वैद्य के पास ले जाया जाता है। वैद्य जी के दवा के साथ–साथ झाड़–फूँक के लिए ओझा को बुलवाना बहुत ही जरूरी समझा जाता है। टोना–टोटका, जादू–मंत्र, झाड़–फूँक से ही बीमारी ठीक हो सकती है ऐसी मान्यता ग्रामीण जीवन में व्याप्त थी।

'गंगा स्नान' से पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसी मान्यता के तहत दुनिया में सारे पाप करने के बाद पुण्य की प्राप्ति हेतु मनुष्य गंगा स्नान करता है। पुण्य और शुचिता के नाम पर गंगा स्नान की मान्यता कितनी अंधविश्वासी है इसका वर्णन 'गंगा स्नान' नाटक में बखूबी हुआ है। नाटक का पात्र मलेछू तमाम कुकर्म

करने के बाद गंगा स्नान करने जाता है, रास्ते में अपनी देवी जैसी माँ का अपमान भी करता है किंतु उसकी आँख खुलती है एक धूर्त साधु द्वारा ठगे जाने पर। माता–पिता की सेवा से जो पुण्य मिल सकता है वह गंगा में सौ डुबकियाँ लगाने से भी नहीं मिलेगा। पुण्य और शुचिता के नाम पर खोखली मान्यताओं को बढ़ावा देने में ब्राह्मण वर्ग कभी पीछे नहीं रहा है।

'सूत्रधार' में वर्णित एकौना के यज्ञ का प्रसंग ब्राह्मणवादी ढोंग की कलई खोलता है –

"आपको ब्राह्मण नहीं भेटाया जो नाई के लड़के से जग्गशाला भरस्ट करवा रहे हैं?"

"ई नाऊ है?"

"तब का!....."

"जावो बच्चा दूसरा काम देखो। एक बात सुन लो, जात मत छिपाना, पाप लगेगा। भिखारी के हाथ पाँव सुन्न। जैसे कोई चूक हो गई हो।"

उसके सामने ही गंगाजल का छिड़काव कर मंत्र से शुद्ध करने के बाद काम फिर शुरु किया गया। भिखारी धीरे–धीरे वहाँ से चला आया। उसकी समझ में नहीं आया कि एकाएक वह खारिज कैसे कर दिया गया। गंगाजल नाई या कहार ढोकर ले आए थे, लकड़ी लोहार फाड़ रहा था। दूध–दही अहीर के घर से आया होगा, कलशा–परई कुम्हार दे गया होग, दोना–पत्तल नट और डोम दे गए होंगे। आम का पत्तल एक मल्लाह का लड़का तोड़कर गिरा रहा था, यह उसने खुद देखा, अक्षत बनिया की दुकान से आया होगा, कपड़े और दूसरी चीजों को भी ब्राह्मणों ने नहीं बनाया होगा। मगर ये सारे लोग अब इन्हें छू भी नहीं सकते।"[24]

रहन–सहन का स्तर :

कुतुबपुर गाँव के लोगों का जीवन वर्गीय आधार पर अलग–अलग दिखाई देता है जहाँ एक ओर रामध्यान सिंह, रामसूरत सिंह, रामानंद सिंह जैसे संपन्न लोग हैं वहीं दूसरी ओर भिखारी ठाकुर, पलटू दुसाध, रामा गोड़, जैसे गरीब लोग

भी हैं। जिनका जीवन 'टुहलई' करके बीतता है। भिन्न–भिन्न जातियों में विभक्त होने पर भी ये एक ही गाँव में आपसी भाई–चारे के साथ रहते हैं। जातियों के आधार पर टोलियाँ बंटी हुई हैं – जैसे नाई टोला, चमार टोला, मुसहर टोला आदि। इन आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से हीन समझी जानेवाली जातियों के घर फूस की झोपड़ियाँ हैं तो उच्चवर्गीय लोगों की पक्के ईंट की ड्योढ़ियाँ। इसी से दोनों वर्गों के बीच के आर्थिक स्तर को समझा जा सकता है।

यह गाँव तीन नदियों, सरयू, गंगा और सोन के बीच पड़ता है। अतः हर साल आनेवाली बाढ़ की तबाही से बार–बार प्रभावित होता है। इन आपदाओं से सामान्य जनजीवन अस्त–व्यस्त हो जाता है।

"गंगा में भयंकर बाढ़ आयी थी कि धारा ही बदल गई। जान के लाले पड़ गए थे, भागमभाग मची थी। कितनों का घर ढाह दिया, कितनी नावें डूब गईं, कितने गाय–गोरु, छेड़ी–भेंड़ी मर–बह गए, कितने गाँव! राम–राम करते, गंगामाई की मनौती मानते कैसे–कैसे तो इस पार आए थे लोग।"[25]

"पिछले सात दिनों से पानी रूकने का नाम नहीं ले रहा। लगातार झड़ी (झापस) – कभी धीमी, कभी तेज! हट्टास मारती पुरवैया। पानी बढ़ रहा है गंगाजी का। पानी बढ़ रहा है सरजू जी की छाड़न का। ऊँचास पर खड़े होकर देखो तो पानी ही पानी। खलखलाती, बलखाती धारा, जैसे झुंड की झुंड नागिनें बिलबिलाती हुई चली आ रही हों। पानी क्या आया, परलय (प्रलय) मच गया मानो।"[26]

इन प्राकृतिक आपदाओं की वजह से होनेवाली अपार क्षति के कारण लोग अपने आर्थिक स्तर से ऊपर नहीं उठ पाते। यह समस्या अधिकतर निम्न वर्गों के साथ है, उच्च वर्ग चूँकि संपन्न हैं अतः उनकी स्थिति में जल्दी ही सुधार हो जाता है।

इतनी सारी समस्याओं से जूझते हुए भी इन ग्रामीण लोगों की जीने की उत्कट् इच्छा खत्म नहीं होती। उस पर भी ये जीवन के रस लेते हुए प्रतीत होते हैं। अपनी लोक परंपरा को गीतों, नृत्यों, नाटकों, रामलीलाओं आदि के द्वारा जीवित रखे हुए हैं। विवाह के अवसरों पर होनेवाली चुहल हो या होली खेलने का समय ये ग्रामीण लोग मिलजुल कर भरपूर आनंद उठाते हैं। इन लोगों की अपनी

कुछ क्षेत्रीय परंपराएँ भी हैं जिनका निर्वाह ये बखूबी करते हैं। विवाह आदि में गारी (गाली) देने का प्रसंग ऐसी ही परंपरा की ओर इशारा करता है –

"हथिया हथिया शोर कइले, गदहो ना ले अइले रे

तोरा बहिन के सोंटा मारौं, नमवा हँसउले रे!"[27]

होली, दीपावली, छठ, गोधन आदि त्यौहारों के अवसर पर पूरा गाँव मिलकर खुशियाँ मनाता है। कुछ देर के लिए जाति, वर्ण, धर्म आदि विभेदों का लोप हो जाता है। होली का यह दृश्य इसका सजीव उदाहरण है –

"यूँ तो बसंत पंचमी के दिन से ही, जब सम्मत का रेंड गाड़ा जाता है, कुतुबपुर में फगुए का मौसम शुरू हो जाता है और शुरूर आधे चैत तक बना रहता है, मगर आज और कल अपने चरम पर रहेगा। आज यहाँ फाग गाया जाएगा, तो कल वहाँ, आज यहाँ हुड़दंग, तो कल वहाँ। फागुन में बूढ़ा ससुर भी देवर लगता है तो रामा तो रामा है। अहीरों, लोहारों, कुम्हारों, बिंदों, दुसाधों के घरों की मेहरारू निकल आई है और चुहुल कर रही हैं। बड़ी जातियों की औरतें मन मसोसतीं दुआर पर से ही बोली बोल रही हैं, दुलहिनें आड़ से ही खीं–खीं कर रही हैं। अचानक रामानंद सिंह के खँखारते ही सबने सन्नाटा खींच लिया। रामानंद सिंह गाँव–भर के भसुर हैं, रामागोंड़ गाँव–भर का देवर और बिंद बहू गाँव–भर की भौजाई।"[28]

जहाँ पूरा गाँव उत्सवों एवं त्यौहारों का आनंद उठाता है वहीं एक वर्ग ऐसा भी है जो परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं में जकड़ा हुआ है। यह वर्ग है उच्च घराने की स्त्रियों का, जो सामंती व्यवस्था की चहारदीवारी से घिरी हैं। उन्हें न तो घर से बाहर निकलने का अधिकार है और न ही सामूहिक रूप से किसी सभा या समिति में बैठने का। उनके अधिकार घर की चारदीवारी से शुरु होते हैं और चारदीवारी के भीतर ही खत्म हो जाते हैं। न तो उनकी खुशियों का कोई मायने है न ही इच्छा–अनिच्छा के। इस अर्थ में वह निम्नवर्गीय स्त्रियों से कहीं अधिक पिछड़ी और शोषित हैं।

संदर्भ–संकेत

---

[1] कथादेश, पृ.40
[2] वही, पृ. 7
[3] वही, पृ.41
[4] सूत्रधार, पृ.22
[5] वही, पृ.50
[6] वही, पृ.17
[7] वही, पृ.25
[8] वही, पृ.24
[9] वही, पृ.65
[10] वही, पृ.148
[11] यू. आर अनंत मूर्ति – संस्कार, पृ.51
[12] वही, पृ.64
[13] वही, पृ.27
[14] वही, पृ.219
[15] वही, पृ.220
[16] वही, पृ.230
[17] वही, पृ.303
[18] वही, पृ.19
[19] वही, पृ.20
[20] वही, पृ.41
[21] राजकुमार – हंस, पृ.91
[22] वही, पृ.174
[23] वही, पृ.168
[24] वही, पृ.22
[25] वही, पृ.15
[26] वही, पृ.210
[27] वही, पृ.101
[28] वही, पृ.137

तृतीय अध्याय

ग्रामीण जीवन की विसंगतियाँ और 'सूत्रधार'

(क) भौगोलिक स्थिति

(ख) निम्नवर्ग की स्थिति

(ग) सामाजिक समस्याएँ

(घ) अशिक्षा

(ड.) अंधविश्वास

(च) गरीबी और गाँव से पलायन

(छ) कला की उपेक्षा

(ज) जीवन में रस का संचार

(झ) नई-पुरानी पीढ़ी का द्वन्द्व

(ञ) महत्वहीन स्वतंत्रता

ग्रामीण जीवनकी विसंगतियाँ और सूत्रधार :

सूत्रधार का कथ्य भारतीय ग्रामीण जीवन के यथार्थ से जुड़ा हुआ है। यह यथार्थ समसामयिक और एकदेशीय भी है तथा शाश्वत और भूमंडलीय भी। गरीबी, गुलामी, अशिक्षा और अंधविश्वास, शोषण और दमन, महामारी और अकाल, जातिवाद और नस्लवाद जैसी विसंगतियाँ मानव इतिहास में कोई नई बात नहीं है। लेखक ने समाज की इन सारी विसंगतियों को बड़े ही प्रभावी ढंग से उपन्यास का विषय बनाया है। इससे पहले प्रेमचंद अपने कथा साहित्य में इस प्रकार की समस्याओं से टकरा चुके हैं। प्रेमचंद के साथ–साथ 'रेणु' और नागार्जुन भी इन समस्याओं के खिलाफ जेहाद् कर चुके हैं। संघर्ष की इसी परंपरा को संजीव आगे बढ़ा रहे हैं।

भारत के ग्रामीण क्षेत्र सुदूर अतीत से ही सामंती गुलामी, निर्धनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, शोषण, दमन, अकाल आदि का शिकार होता रहा है। आधुनिक काल के ब्रिटिश शासन में गाँवों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक स्थिति दिनों दिन बद्तर हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ग्रामीण जीवन में कुछ सुधार तो अवश्य हुआ परंतु उनकी जीवन दशा का ग्राफ अभी भी सतह के आस–पास ही है। संजीव ने इस ग्राफ के आरंभिक बिंदु को 'सूत्रधार' में अपनी लेखकीय संवेदना और समाजशास्त्रीय समझ से उजागर कर दिया है। संजीव ने जिस काल को अपने उपन्यास में वर्णित किया है वह स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले और बाद की स्थिति को बखूबी सामने लाता है। कोई भी रचना रचनाकार की दृष्टि का प्रतिफल होती है। विषय को लेकर रचनाकार की दृष्टि का महत्व उसके चयन तक सीमित है। उसकी दृष्टि की असली क्रिया तो वस्तु के चयन और प्रस्तुति में सामने आती है। रचनाकार की मूल प्रकृति का संस्कार परिष्कार करती हैं – उसकी परिस्थितियाँ, उसका अनुभव, उसका वर्ग चरित्र और सचेत स्तर पर अपनायी विचारधारा आदि।

'सूत्रधार' का कथ्य बहुआयामी है। इस उपन्यास में भिखारी ठाकुर को नायक मानकर उन्हीं के इर्द–गिर्द कथा बुनी गयी है। भिखारी ठाकुर भोजपुरी क्षेत्र के लोक कलाकार थे, उन्हें जानने वाले लोग अभी भी हैं। स्वयं संजीव ने बचपन

में उनका नाच देखा था। भिखारी ठाकुर का जन्म नाई जाति में हुआ था। भिखारी ठाकुर की नाई से 'मलिक जी' बनने की यात्रा को संजीव ने बारीकी से उकेरा है। भिखारी ठाकुर के जीवन में अनेक स्तरों पर संघर्ष था, उसी संघर्ष की विवेचना करने पर 'सूत्रधार' में निहित ग्रामीण जीवन की विसंगतियों को पकड़ा जा सकता है। यदा–कदा 'सूत्रधार' का कथ्य शहरी जीवन को भी इंगित करता है और शहरी जीवन की चकाचौंध के पीछे की भयावह सच्चाई की भी कलई खोलता है।

'सूत्रधार' में वर्णित गाँव कुतुबपुर (भिखारी ठाकुर का गाँव) के जीवन के संबंध में संजीव की गहरी संश्लिष्ट पहचान की कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। संजीव कहीं–कहीं स्वयं भिखारी ठाकुर का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं, तभी तो गाँव के लोगों का दर्द, उनकी बोली–बानी, उनकी सोच–समझ सब अनायास सजीव हो गए हैं। कोई भी बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी होने से पहले एक रागात्मक मनुष्य है, उसकी मनुष्यता की पहचान होती है सौंदर्य, अभिशाप, अभाव और विडंबनाओं से तनी हुई जिंदगी के बीच। इस कसौटी पर संजीव खरे उतरते हैं क्योंकि 'सूत्रधार' का कथानक उनकी इसी दृष्टि का प्रतिफल है।

भारतीय गाँव की जिंदगी एक संश्लिष्ट बिंब है, उसमें प्रकृति और मनुष्य का गहरा साहचर्य है। केंद्र में मनुष्य ही है किंतु मनुष्य सूने में तो नहीं खड़ा है, उसके आस–पास प्रकृति का विराट परिवेश है, संश्लिष्ट समाज है। उसी परिवेश में वह पैदा होता है, वहीं बढ़ता है, वहीं से और उसी परिवेश से अपनी जीविका अर्जित करता है तथा जीवन से जुड़े अनेक आयामों को देखता चलता है। कभी यह समाज उसके लिए अच्छा साबित होता है तो कभी बहुत बुरा। कोई भी रचना किसी विशेष जमीन से जुड़कर ही जीवन सौंदर्य को पहचानती और रचती है। ऐसा सौंदर्य अमूर्त नहीं होता, वरन् एक विशेष परिवेश और जमीन से जुड़कर अधिक जीवंत और मूर्त हो उठता है। उसके साथ परिवेश जमीन के अनेक स्पंदन जुड़ जाते हैं इसलिए वह अपने प्रभाव में अधिक गहरा और सार्वभौम हो जाता है। संजीव की जीवन–पहचान की यही विशेषता उन्हें वर्तमान और अतीत के बीच गहरे पैठने देती है। संजीव धीरे–धीरे एक आयाम से दूसेर आयाम में धँसते चले जाते हैं।

गाँव की भौगोलिक स्थिति :

'सूत्रधार' में वर्णित कुतुबपुर गाँव गंगा, सोन और सरयू के मुहाने पर स्थित है, अतः प्राकृतिक दृश्यों से ओत–प्रोत है, किंतु उसकी प्रकृति की गोद में जो मनुष्य पल रहे हैं वे भूखे, नंगे, स्वार्थलोलुप और रूढ़िवादी हैं। प्रकृति की समृद्धि है तो भी किसके लिए? चंद धनवानों, बबुआनों के लिए। कुतुबपुर गाँव में बारहों जाति के लोग रहते हैं। गाँव तीन नदियों के बीच स्थित है, बरसात में ये नदियाँ अपने उफान पर होती हैं, जिससे गाँव का गाँव तबाह हो जाता है। इस समस्या से 'बबुआन' तो तुरंत निपट लेते हैं क्योंकि उनके पास शक्ति और सामर्थ्य दोनों हैं किंतु 'परजा–पउनी' संघर्ष करते रह जाते हैं। गाँव में राजपूत, ब्राह्मण, क़ायस्थ संपन्नवर्ग हैं तो कोइरी, कुर्मी, यादव, धोबी, नाई, कुम्हार, बिंद, चमार, दुसाध, कहार आदि जातियाँ गरीब हैं। सभी जातियों के अपने–अपने टोले हैं। वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से हावी है। इस वजह से ऊँची कही जानेवाली जाति के लोग नीची कही जानेवाली जाति का शोषण करते हैं। अतः दोनों (संपन्न और विपन्न) वर्गों के बीच एक अंर्तगुंफित सा तनाव मौजूद रहता है। कुतुबपुर गाँव में राजपूतों का वर्चस्व है। अतः अपनी शक्ति और बल के प्रयोग से वे अनपढ़, गरीब और पिछड़ी ग्रामीण जनता का हर तरह से शोषण करते हैं। एक ओर जहाँ रामध्यान सिंह, रामसूरत सिंह, रामानंद सिंह जैसे संपन्न लोग हैं, वहीं भिखारी ठाकुर, पलटू दुसाध, राम गोंड़, जोखन बिंद जैसे गरीब लोग भी हैं। जिनका जीवन 'टहुलई' करके बीतता है। वे परमुखापेक्षी हैं, उनको अपने श्रम का उचित फल नहीं मिलता। मुफ्त बेगार करना उनकी नियति है। आर्थिक रूप से निर्बल होने के साथ–साथ सामाजिक (जाति व्यवस्था के तहत) स्तर पर भी वे निम्न जीवन जीने को विवश हैं। इतने पर भी हर साल आनेवाली बाढ़ की विभीषिका से उबरना उनके लिए मुश्किल हो जाता है।

"पानी बढ़ रहा है सरजू जी की छाड़न का। ऊँचास पर खड़े होकर देखो तो पानी ही पानी। नीचे तेज तरखा है। अरार का पेट भर गया। पानी अब ऊपर आ जाएगा। भागो, दरक रहा है, कुछ ही पलों में जमीन का यह बड़ा खंड पानी में धंस जाएगा। दयाल चक बबुरा और किनारे के सैकड़ों गाँवों को निगलता हुआ

पानी कुतुबपुर को अपनी गुंजलक में लपेटकर बैठ गया है। नीचेवाले खेत डूब गए।"[1]

"ऊपर भादो की उमड़ती घटा है, नीचे चारों ओर मटियाला–मटियाला पानी। नावें खड़ी हैं। यह सोन का पानी है कि गंगा का, कि सरजू का? गाँव के बड़े–बूढ़ों के बीच बाढ़ की पुरानी स्मृतियों और नई आशंकाओं के बीच सलाह–मशविरे चल रहे हैं। बलवनपुर छपरा टोला से डोरीगंज और उसके आगे सिन्हा घाट तक पानी ही पानी। उधर दक्षिण बबुरा और उत्तर डोरीगंज के बीच रीढ़ की तरह यही तो एक पट्टी है जो इस महाप्रलय में एकमात्र आश्रय है।"[2]

इन प्राकृतिक आपदाओं की वजह से अपार जान–माल की क्षति होती है। निम्नवर्ग के लोग और गरीब होते चले जाते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति का ग्राफ और नीचे होता जाता है।

निम्नवर्ग की स्थिति :

संजीव का बलाघात निम्न कुल (नाई) में जन्मे भिखारी पर है उच्च कुल में जन्मे ठाकुर पर नहीं। यह बहस तो उपन्यास के भीतर ही है कि आखिर भिखारी नऊवा 'ठाकुर कैसे हो गया, नाई... यानि एक ऐसी जाति जिसका पूरा जीवन बाबू साहब और बाबाजी लोग तथा अन्य उच्च जातियों को 'न्यौतने' और 'टहुलई' करने में बीत जाता है। 'टहुलई' ही मूल समस्या है भिखारी ठाकुर की, जिससे वे टकराते हैं। टहुलई के विरुद्ध आवाज उठाने का मतलब है समाज द्वारा प्रदत्त परंपरा से टकराना जिसे 'दैवी' जामा पहनाकर शोषण और गुलामी का तर्क बनाया जाता है।

सूत्रधार के 'भिखारी ठाकुर का संघर्ष कई स्तरों पर है। निम्नवर्गीय व्यक्ति को परंपरागत पेशे से इंकार करना समाज की आँखों में खटकता है। इस संघर्ष में एक व्यक्तित्व कितनी बार टूटता है, गिरता है फिर भी हार नहीं मानता। एक दलित कलाकार (भिखारी) की यात्रा तमाम उतार–चढ़ावों से भरी हुई है। भिखारी ठाकुर का संघर्ष दो स्तरों पर होता है – एक तो अपने वर्ण तथा वंशानुगत पेशे

से अलग होने पर सामाजिक, पारिवारिक दबाव, दूसरा प्रदत्त परंपरा से। संजीव ने इस तथ्य को सूक्ष्मता से पकड़ा है।

"कोई बाबा जी या बाबू साहब आते हैं तो उनके सम्मान के लिए तखत से नीचे उतारकर प्रणाम या सलाम कर–विनीत मुद्रा में खड़े हो जाना पड़ता है। फिर वे कुछ पल रूके तो उनसे कुशल क्षेम पूछना पड़ता है। देर तक खड़े रह जाते हैं कोई–कोई। और किसी–किसी की दाढ़ी, बाल या नाखून उन्हें देखते ही उग आते हैं। फिर उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। बनवाने में पैसा तो लगना नहीं है, एकमुश्त खलिहानी बँधी है। जितना चाहो, जब चाहो बनवा लो। कुछ लोग तो सिर्फ अपने रुतबे का स्तर परखने के लिए आ जाते हैं, भिखारी उन्हें देखकर कागद–कलम फेंककर तखत से हड़बड़ाकर नीचे उतर प्रणामी मुद्रा में झुककर खड़े हो जाते हैं तो अंदर से उनकी आत्मा तक तिरपित हो जाती है, आत्मविश्वास बढ़ जाता है, जबान बड़प्पन में पिल–पिली हो जाती है। अंदर से कुरमुराते हुए भी ऊपर से सौम्य बने रहना भिखारी की मजबूरी है, तभी तो लोग कहेंगे कि भिखरिया नउवा बहुत सज्जन, सुशील और नेक है।"[3]

सामंती व्यवस्था में निम्न वर्ण के लोगों का ऊँची आवाज में बोलना वर्जित होता है। लाख क्षुब्ध होने पर भी भिखारी ठाकुर अपना क्रोध व्यक्त नहीं कर सकते हैं। अंदर ही अंदर सुलगते रहते हैं, परंतु उस सामंती–व्यवस्था से अकेले टकराने का साहस उनमें नहीं है। नाराज होने के बाद भी ऊपर से अपने आप को सहज और विनीत बनाए रखना सामंती व्यवस्था का दिया हुआ स्वभाव तथा संस्कार है क्योंकि गुस्सा करना सिर्फ उच्च वर्गों को शोभा देता है। निम्न वर्ग तो जन्म ही लेते हैं उनकी सेवा करने के लिए अतः उच्च वर्गों के द्वारा दी जानेवाली गाली, अशोभनीय व्यवहार सबको सहन करना पड़ता है। इसके विरुद्ध कहीं आवाज उठाई तो सब कुछ बिगड़ सकता है। एक पल के क्रोध के कारण दिखाई गई अनावश्यक बहादुरी का खामियाजा उनकी कला और उनके कलाकार दोनों को उठाना पड़ेगा। इसके विपरीत उनके दूर के समधी बाबूलाल की सोच अलग है। वे इस अन्याय का विरोध करते हैं –

"यहाँ का हाल ही विचित्र है। बिना किसी काज–परोजन (प्रयोजन) के ही आकर खड़े हो जाएँगे। अरे भैया, अपना काम देखो, हमें अपना काम करने दो। सो नहीं, कुंदे की तरह खड़े हो जाएँगे, सोरि (जड़) निकल आएगी। टस–से–मस तक नहीं होंगे। यह तो तुम्हारे लिखने का हाल है, कल को अगर नाच का अभ्यास चलने लगे तो क्या होगा? यहाँ तमाशा लगा है क्या?"[4]

ऊँच–नीच का भेदभाव आकस्मिक है, कौन किस कुल में जन्म लेता है, यह उसके वश में नहीं, इसलिए उसके मन में उच्च कुलवालों के प्रति ईर्ष्या नहीं है। इस संबंध में समाज के नियम अपरिवर्तनशील हैं अर्थात् मोची का बेटा जूते गाँठेगा, नाई का बेटा टहुलाई करेगा और जमींदार का बेटा जमींदारी। यहाँ ध्यान देने की बात है कि मुंह दूबर और जाति दंश से घायल लोग अफाट गरीबी और शोषण में भी आश्चर्यजनक संतोष धारण किए हुए हैं। यानि इस स्थिति में जो विस्फोट होना चाहिए था वह नहीं होता है। जो होना चाहिए और जो हो रहा है, दोनों का तनाव संजीव के अनुभव जगत में उतरा है तथा यथार्थ को जटिल बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है।

यथार्थ की जटिलता को पहचानने की संजीव की यह विशेष शैली है। वर्गीकृत ढंग से यथार्थ को देखना उनकी एक विशेषता है। सौंदर्य की प्रक्रिया से गुजरनेवाला रचनाकार जीवन के अनेक तत्वों को परस्पर संग्रथित कर यथार्थ का जटिल बिंब बनाता है, और सांकेतिक ढंग से उसे कोई दिशा देकर अपनी पक्षधरता व्यक्त करता है। संजीव सौंदर्य–प्रक्रिया से यथार्थ के जटिल बिंब उपस्थित करनेवाले समर्थ कलाकार हैं इसलिए सामाजिक यथार्थ के अनंत रूप उनके दृश्यों, लोकगीतों, लोककथाओं, प्रकृति–चित्रों, संवादों आदि में अंर्तव्याप्त हैं। कलात्मक ढंग से वे आम आदमी के प्रति पक्षधरता व्यक्त करते हैं। व्यंग्य, करुणा, यातना, विद्रोह, प्रेम आदि के जटिल बोध संश्लिष्ट बिंब उभारते हैं तथा गाँव की जड़ परंपरा से बार–बार टकराते हैं।

"संजीव की लेखकीय जिद अगर इन सारे बाड़ों और बीहड़ों से निकल आई और उसे खरोंच तक नहीं लगी तो इसकी एक वजह तो वह परिश्रम और शोध–निष्ठा है जो संजीव अपनी हर रचना से पहले दिखाते रहे हैं। लेकिन इसकी

दूसरी और ज्यादा बड़ी वजह उस सांस्कृतिक समझ में है जिसके तहत उन्होंने भिखारी ठाकुर को किसी उदात्त और भव्य नायक की तरह प्रतिष्ठित करने की जगह उनकी परंपरा में विन्यस्त किया और इस क्रम में उस भारी धूल–माटी और धब्बों को ज्यों का त्यों रहने दिया जो भिखारीठाकुर के कुर्ते पर थे और उन लोगों और उस विराट समूह को भी जो भिखारी को बनाता था और जिनसे भिखारी बनते थे।"[5]

यथार्थ के दो पहलू हैं पहला सृजनात्मक तो दूसरा विनाशात्मक। एक पहलू यदि उत्थान से जुड़ा है तो दूसरा पतन से। यह पतन नैतिक सामाजिक, आर्थिक किसी भी रूप में हो सकता है। कुतुबपुर गाँव भी दोनों पहलुओं से अछूता नहीं है। नशाखोरी, विधवा की समस्या, कन्या विक्रय, अनमेल विवाह, जाति प्रथा आदि ग्रामीण जीवन की विसंगतियों के उदाहरण हैं। एक ओर समाज पक्षाघात से पीड़ित है, दूसरी ओर धर्म–विक्षिप्त। एक चल नही सकता, दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर से दौड़ लगा रहा है। गर्म और ठंडे जल से भरे पात्रों की निकटता जैसे उनका तापमान एक–सा कर देती है, उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति उन्हें एक–सी निर्जीवता देती है।

सामाजिक समस्याएँ :

पहले ही कहा जा चुका है कि कुतुबपुर के ग्रामीण समाज में वर्ण व्यवस्था हावी थी। वर्ण व्यवस्था में जातिगत और जन्मगत श्रेष्ठता को मुख्य आधार बनाया गया था। शूद्र जैसी जातियों का जीवन स्तर भिन्न था। जमींदारी प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी। समाज में उत्पीड़न, अनाचार और अत्याचार का बोलबाला था। समाज का अतिउपेक्षित वर्ग (दलित) उच्च वर्ग के विरुद्ध जाने से डरता था। आर्थिक और जातिगत उच्चता और नीचता के मापदंड पर मनुष्य की पहचान होती थी। निम्नवर्ग ज्यादातर बेगार किया करते थे। श्रम का शोषण जोर–शोर से होता था। नाई जाति भी ऐसी ही उपेक्षित जाति थी जिसके श्रम का कभी उचित मूल्य नहीं मिलता था। मेहनताने के बदले गाली और छँटा–छूँटा हुआ अनाज ही हाथ आता था। निम्नवर्गीय होने पर भी ये जाति अस्पृश्य नहीं थी। इस जाति की पहुँच समाज के अंदर और बाहर दोनों जगह थी। जाति व्यवस्था की संकीर्णता ने

समाज को खोखला कर दिया था। वैसे शहरों में भी जाति व्यवस्था का असर दिखाई देता है। कभी–कभी सूत्रधार का कथानक शहरी जीवन की ओर भी जाता है। किंतु कुछ समय के लिए ही, फिर वापस आ जाता है। जातिवाद शहर में भी फैला हुआ है, इसको निम्नलिखित प्रसंग के द्वारा संजीव ने दिखालाया है –

"फोड़ा–फुंसी न भी हो जाति तो पूछ ही लेनी चाहिए। वैसे दाढ़ी, में क्या जात और क्या कुजात! पैसे तो सभी देते हैं। लेकिन लोग बड़े नेमी–धरमी हैं। ख्याल रखना पड़ता है कि जिस छूरे से किसी बाउरी–चुहार या नीच जाति की दाढ़ी बनाई गई हो, उससे किसी ब्राह्मण, राजपूत या ऊँची जात की न बनाएँ, कम–से–कम सामने तो बिलकुल नहीं, नहीं तो ग्राहक भड़क जाएँगे।"[6]

ग्रामीण परिवेश में जाति और धर्म एक दूसरे से लिथड़े हुए हैं। एक के बिना दूसरे का कार्य संपन्न नहीं हो सकता। धर्मभीरू समाज धर्म और कर्मकांड की ओट में अपने को बचा ले जाता है। भ्रमों को फैलाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में धर्मभीरू समाज के भद्र जनों को महारत हासिल है। 'रामायणी बाबा', मिर्चइया बाबा जैसे लोग इसका सजीव उदाहरण हैं।

कुतुबपुर गाँव में समाज संयुक्त पारिवारिक परंपरा में था। परिवार के मुखिया ही परिवार का संचालन करते थे। किंतु धीरे–धीरे इस परंपरा का बहिष्कार होने लगा। भारतीय समाज की चरमराती पारिवारिक व्यवस्था और संपत्ति के प्रति मोह ने संयुक्त परिवार को तोड़ने वाली अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मतभेद का मुख्य कारण पारिवारिक कलह थी जो खून–खराबे की सीमा तक पहुँच गई। जगह–जगह के सामाजिक परिवेश से आई बहुओं के पारिवारिक ढाँचे में घुलने–मिलने और पारिवारिक मामलों में बाहरी व्यक्ति के हस्तक्षेप ने इस समस्या को बढ़ाने में अपना योगदान दिया। भाई–भाई के बीच स्वार्थपरता की भावना ने भी पारिवारिक बिखराव को बढ़ावा दिया। यह बिखराव ग्रामीण परिवेश की सामाजिक व्यवस्था पर ज्यादा प्रभाव डालता है।

ग्रामीण समाज में नशाखोरी की समस्या मुख्य समस्याओं में आती है। कुतुबपुर गाँव इस समस्या से अछूता नहीं है। सामाजिक, आर्थिक तनाव और निराशा के कारण नशाखोरी की समस्या उभरती है। ग्रामीण समाज का पुरुष

शराब पीकर अक्सर अपना आपा खो बैठता है तथा अपनी पत्नी को पीटता है। नशे में अपना विवेक तो खोता ही है अच्छे बुरे का भी ध्यान उसे नहीं रहता। इसके कारण सामाजिक विश्रृंखलता, परस्त्रीगामिता तो बढ़ती ही है साथ ही साथ स्वास्थ्य और मान प्रतिष्ठा भी प्रभावित होती है। परिवार की आर्थिक स्थिति पर जो प्रभाव पड़ता है वह स्थितियों को बद् से बद्तर बना देता है। नशाखोरी व्यक्ति की ऐसी कुवृत्ति है जो व्यक्ति को विवेकहीन बनाकर आपराधिक जीवन की ओर ले जाती है। नशाखोरी ने न जाने कितने लोगों का जीवन तबाह कर दिया है। इसी तबाही को संजीव ने 'फणी बाबू' और 'मोहन बाबू' जैसे लोगों की बरबादी के माध्यम से उजागर किया है। फणी बाबू नशे में अपना विवेक खो बैठे हैं। इस वजह से उनका जीवन तो प्रभावित हुआ ही है परिवार की अवस्था भी दयनीय है। घर में पत्नी और बच्ची के होते हुए भी नशाखोरी ने उन्हें परस्त्रीगामी बना दिया है। भिखारी ठाकुर के भतीजे गौरीशंकर का शराब पीकर मंच पर आना और अकाल काल कलवित होना इस नशाखोरी का ही परिणाम सिद्ध होता है। ग्रामीण समाज में स्त्रियों की स्थिति लगभग शूद्रों की थी। स्त्रियों से संबंधित कई समस्याएँ ग्रामीण समाज में व्याप्त थीं जैसे – अनमेल विवाह, बाल विवाह, कन्या–विक्रय, विधवाओं की समस्या, वेश्यावृत्ति आदि। पिछले अध्याय में इन समस्याओं का विस्तार से विवेचन हो चुका है। संक्षेप में इन समस्याओं पर प्रकाश डाला जा रहा है।

गाँव में संपन्न वर्ग और महाजन सुनियोजित तरीके से किसानों को भूमिहीन कर देते थे और उन भूमिहीन किसानों का जमकर शोषण करते थे। किसानों को कर्ज देकर उनका घर–बार छीन लेना आम बात थी। कई बार बेटियों के विवाह के लिए भी पैसे सूद पर लिए जाते थे। कहीं–कहीं बेटियों को विक्रय करने की कुप्रथा थी। कुतुबपुर गाँव में भी एक बबुनी का विक्रय किया गया था। पुरुष विधुर है तो वह दूसरा विवाह कर सकता था, मनपसंद कमसिन लड़की खरीद सकता था। इसी कुप्रथा को संजीव ने बबुनी के माध्यम से उजागर किया है। अपने से तिगुने उम्र के व्यक्ति के हाथ जीवन की डोर सौंपने की बबुनियों की मजबूरी स्त्रियों की परतंत्रता को इंगित करता है।

"रूपिया गिनाय लिहल, पगहा धराय दिहल,

चेरिया के छेरिया बनऊअल ऐ बाबू जी।"[7]

उक्त कथन में बबुनी अपनी तुलना जानवर से करती है। यहाँ 'पगहा धराना' का अर्थ है कि लड़की का अपने जीवन पर कोई अधिकार नहीं है। आर्थिक तंगी से उबरने की ओट में लड़कियों को अनमेल विवाह के लिए विवश होना पड़ता था। जिसका भविष्य में परिणाम और भी बुरा होता था। कम उम्र में स्त्री को वैधव्य झेलना पड़ता था। वैधव्य की अवस्था में उस पर तरह–तरह की बंदिशों को लगाया जाता था। साज श्रृंगार उनके लिए वर्जित हो जाता था। सामाजिक संस्कारों, उत्सवों में वे भाग नहीं ले सकती थीं।

"सारे बाल छिल जाने पर सफेद कपड़ों में कैसी लग रही थी वह औरत! एक बार देखा, पीले गोरे मुखड़े पर छिली लटों की सफेदी, काली–काली बरौनियाँ, आँसुओं से चिपचिपाई पलकें और टिपकियों में खिंचता गला... फिर दोबारा देखने की हिम्मत न हुई। उजली मारकीन में मुंडित वह बच्चे जैसा चेहरा एक स्थायी धब्बे–सा जम गया जैसे दिमाग।"[8]

समाज द्वारा सांसारिकता से विमुख कराने के बाद भी विधवाओं को चैन नहीं मिलता। उन्हें मृत पति को याद करके शेष जीवन बिताने की सलाह दी जाती है। उन्हें संपत्ति रखने का अधिकार नहीं होता। उनकी संपत्ति पर (जो जीवन निर्वाह के लिए दी जाती है) भी पड़ोसियों, संबंधियों की आँख लगी रहती है।

अशिक्षा :

कुतुबपुर गाँव में शिक्षित लोगों की कमी है, कारण! शिक्षा का महत्व कर्म से ज्यादा नहीं है। ऐसी मानसिकता ग्रामीणों की बनी हुई है। पढ़ाई से ज्यादा महत्वपूर्ण है शादी–ब्याह, काम–काज, घर–गृहस्थी और बाल–बच्चे। सांसारिकता के आगे पढ़ाई का महत्व गौण है। "पढ़ लिख के का करब, भैंस चराईब त मट्ठा खाईब।" वाली कहावत ग्रामीण जीवन में प्रचलित है। कुतुबपुर गाँव भी इसी मानसिकता से ग्रसित है।

"बाप ने उसी दिन दुद्धी–पट्ठी फेंक कर दो चाँटे लगाए और खूँटे पर बँधी चार गाएँ खोलकर उन्हीं के साथ उसे भी हाँक दिया दियारे में – "पढ़ल–लिखल तोरा सा ना होई, जा करमजला, भाग! फोहस गालियाँ बाबा ने रोक न लिया होता तो बहुत मारते।"

"मारिहअ मत! ना तो बात बगद जाई। दुनिया में सब पढ़ले बाड़न। ना पढ़ी हमार पोता।"[9]

बाबा की बातें मरहम की तरह लगी थीं। पढ़ने के पक्ष और विपक्ष में खासा युद्ध लड़ा गया लेकिन जीते बाबा ही। कारण, पढ़ाई–लिखाई तब कोई वैसी महत्वपूर्ण चीज नहीं हुआ करती थी, मुख्य चीज होती थी शादी–ब्याह, काम–काज, गिरहस्ती, बाल–बच्चे बस।"

"ई का बैठे हैं शीलानाथ, गौरी शंकर। दूनों जन पढ़ाई छोड़ चुके हैं। दूनों जन का बियाह हो चुका है।"[10]

अशिक्षा के कारण ग्रामीण अपना अच्छा–बुरा समझ नहीं पाते हैं। नशाखोरी, अनमेल विवाह, विधवाओं की समस्या, जाति प्रथा, नैतिक पतन आदि का कारण जनता का अशिक्षित होना है। इनकी अशिक्षा का लाभ समाज के उच्च वर्गों ने बखूबी उठाया है जिनमें ब्राह्मण और राजपूत जाति के लोग प्रमुख हैं। जातिवाद को बढ़ावा भी इन्हीं वर्गों ने दिया है। ऐसे उदाहरण 'सूत्रधार' में भरे पड़े हैं –

"सउरी के काम वह काटने, नहावन कराने तक काम ही काम है, नाई – नाइन के, जबकि पंडित बैठे–बैठे जन्मकुंडली और पतरा देखकर बाईस रूपए ऐंठता है।"

"जजमान झगड़ता है, पंडित से, "बड़के ज्ञानी बने हो तो बोलो पिंडा (पिंडदान) कितने प्रकार का होता है? नाई बेचारा क्या झगड़े? वह तो सिरिफ नौ महीने का पातक (नरक) खाता है, पवित्र करता है... और अगर लड़का मू गया (ढपोरशंखी जन्मकुंडली की हकीकत) तो ब्राह्मण कहता है कि हम का करें? शास्तर गलत है? ना... ना... जजमान, आपकी पुरुब जन्म की कमाई ही ऐसी थी, देर मत करो। नाई को बुलवाकर माथ छिलवाओ, नह कटवाओ, कुआँ, इनार, गंगा

में गोता लगाकर रात तक इंतजार करो, तारा देखकर ही भात खाओ। ऐसा करने पर छुतिका (अशौच) का आधा पाप नाई पर चला जाएगा। वाह रे बाभन देवता! [11]

गो हत्या! जज़मान पगला गया है। अपने गोत्र–जाति के लोग भी देह नहीं छूते। पुरोहित जी सिर्फ धन के साथी हैं, फरके दूर से ही विविध बताते हैं कि कहीं छुआ ना जाएँ – पहले माथ कमवाओ नाई से, नह कटवाओ, स्नान करो, गौरी–गणेश का ध्यान करो, फिर हवन। हवन में पैसा लगेगा, गो–हत्या का मामला है, मजाक नहीं। पगलाए जजमान को साफ करके पंडित के पास कौन ले जाता है, नाऊ! गोबर से लीपकर हवन–वेदी को कौन शुद्ध करता है... नाइन।"[12]

जो समाज इस हद तक अशिक्षा और अंधविश्वास का शिकार होगा उसका पतन निश्चिंत है। शोषण के विविध रूप ग्रामीण जीवन में व्याप्त होते हैं। गरीबी इस कदर है कि तिरस्कृत और दान में मिली वस्तुओं से पेट भरा जाता है। दलित जातियाँ जूठन बटोरने और उतरन पहनने के लिए विवश हैं। भोज, यज्ञ या श्राद्ध के समय ही उन्हें भरपेट भोजन मिल पाता है, जिसका आयोजन हमेशा नहीं होता है।

"यज्ञ के बाद बाबू जी के साथ पूड़ी–तरकारी, लड्डू–बुनिया और अल्लम–गल्लम समान की गठरी मूँड पर उठाए चल पड़ा।"[13]

गाँव में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका जीवन गुलामी करने में ही व्यतीत होता है। उनके सिर पर गुलामी का नशा होता है। अपने मलिकार के कहने पर वह आग में भी कूदने को तैयार रहते हैं। ऐसा ही है – 'रामा गोंड' जो मलिकार रामानंद सिंह का दुलरुआ गुलाम है। जी–जान से उनकी सेवा में जुटा रहता है। एक नशे के समान गुलामी उसके सिर पर सवार रहती है जिसे नमक अदा करने की आड़ में वह पूरे तन–मन से करता है। अपने ऊपर होनेवाले शोषण का उसे भान भी नहीं है।

अंधविश्वास :

अशिक्षा की वजह से ग्रामीण जनता सही क्या है, गलत क्या है इसका निर्णय नहीं ले पाती। तरह–तरह के अंधविश्वासों का शिकार होती है। अर्थाभाव

भी इसको बढ़ावा देता है। अर्थाभाव के कारण ग्रामीण मँहगा डॉक्टरी इलाज नहीं करवा सकते अतः ओझा–गुनी से झाड़–फूँक करवाते हैं। गाँव में डॉक्टर होते हैं ओझा और उनकी दवा होती है – पिटाई या भभूत। भभूत से चाहे जीएँ या मरे यह सोचना उनका काम नहीं ।

"आमडाढ़ीवाली बीमार है, दवाई दरपन नहीं करानी? टोका टिकुलीवाली भौजी ने।"

"घर के सवांग हैं ही देखने के लिए। झराई–फुँकाई हो ही रही है।"

"देह गरम! भूत लगा है। माई ने ओझा से झरवाया, तब जाकर ठीक हुआ।"[14]

भरपेट खाने को जहाँ रोटी नहीं मिलती, वहाँ भला रोग के इलाज के लिए पैसे कहाँ हैं। सस्ता और भरोसेमंद इलाज वैद जी की दवा है या फिर झाड़–फूँक।

गरीबी और गाँव से पलायन

अफाट गरीबी के कारण किसान मजदूर बनने को विवश हैं। रोजी–रोटी की तलाश ही ग्रामीणों को प्रवास के लिए उकसाती है। इसके लिए बहुत हद तक राजनैतिक स्थितियाँ भी जिम्मेदार होती हैं।

भारतीय कृषकों का तीव्र शोषण उस समय आरंभ हो चुका था। कंपनी ने भूमि को प्रतिवर्ष लगान वसूल करवाले उन ठेकेदारों को देना आरंभ किया जो उसे अधिक से अधिक लगान देने को तैयार थे। ठेकेदार किसानों से अधिकाधिक लगान वसूल करते थे जिससे कंपनी के निर्धारित लगान को देकर उसके पास अधिकतम धन बच जाय। इन व्यवस्थाओं के अंतर्गत किसान स्थानीय बनियों के कर्जदार बने अतः अधिकांश भूमि जमींदारों और साहूकारों के हाथों में चली गई। किसान भूमिहीन मजदूर बनते गए। इस प्रकार सरकार, जमींदार, साहूकार, स्थानीय बनिया, बिचौलिया आदि सभी किसानों का शोषण करते रहे। बाढ़, महामारी और अकाल उनकी स्थिति को और अधिक असहनीय बना देते थे। प्राकृतिक प्रकोपों से लाखों लोग हर साल मारे जाते थे।

"मठिया में भूकंप की तबाही की नई–नई खबरें लेकर आते लोग। साहेबगंज से बनारस तक! समसे मुँगेर जिला मलबे में बदल गया है। सरकार उसे फिर से बसाने की सोच रही है। इतने आदमी और जानवर की लाशें सड़ रही हैं कि कोई उठानेवाला नहीं है।"[15]

स्वभावतः कच्चे माल की प्रचुरता और सस्ते मजदूरों के उपलब्ध होने से ब्रिटिश पूँजीपतियों ने भारत में बहुत बड़ी पूँजी लगाई, विशेषकर जूट, कोयला खदान, चाय बागान और नील की खेती में। कलकत्ता ब्रिटिश निवेश का प्रधान केंद्र था जबकि बंबई भारतीय पूँजी का प्रधान केंद्र था। बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों के विकास होने से 19वीं शताब्दी के अंत में बहुत से शहरों का विकास और आधुनिकीकरण हुआ। कलकत्ता, बंबई और मद्रास में अनेक बंदरगाहों की स्थापना हुई। इन्हीं पत्तनों और शहरों ने आगे चलकर भारतीय मजदूर वर्ग को विकसित किया। इस प्रकार शहर लगातार वाणिज्य और वित्त केंद्र के रूप में विकसित होता गया और बहुत बड़ी ग्रामीण संख्या शहरों में आ गयी, ज़िससे आधुनिक मजदूर वर्ग का उदय हुआ। सूत्रधार में इस पलायन का सजीव चित्रण हुआ है –

झुंड–के–झुंड गाँव छोड़कर प्रदेश भाग रहे थे। अतः जातियता के दंश से घायल और आर्थिक स्थिति से कमजोर भिखारी ठाकुर यह सोचते हैं –

"क्यों न किसी ऐसे देश चला जाए जहाँ इनका दबाव भी न हो, मजूरी भी नगद मिले।"[16]

भिखारी ठाकुर का सम्मान न होना और बराबर पेट के लाले रहना, दोनों स्थितियों ने उन्हें प्रवास के लिए उकसाया था। जीवन में साधारण सुख–सुविधाओं के अभाव तथा जातीय दंश ने उन्हें अंदर तक हिला दिया। अतः ग्रामीण परिवेश से शहर की ओर रूख करना स्वाभाविक ही हैं, बिछोह की पीड़ा से परदेशियों का परिवार हर पल घायल होता रहता है। परदेशियों की मंगलकामना के लिए तरह–तरह की मनौतियाँ रखी जाती हैं –

चौबाह (डीह) बाबा के पास आए तो पाँव ठिठक गए। कोई मेहरारू थी या मेहरारू की परछाई? दिया जलाए हाथ जोड़े बैठी थी। दीये के मटमैले इंजोर में उसका पूरा वजूद भूतैला लग रहा था। बिंद बहू है क्या? हाँ वही है। यहीं से पति ने परदेश की डगर पकड़ी थी। चौबाह बाबा तो पूरे गाँव की रक्षा करते हैं। वही सकुशल लौटाकर ले आएँगे उसे। उसकी मन्नौती में बिना खलल डाले, चौबाह बाबा को प्रणाम करते हुए लौट आते हैं भिखारी।"[17]

उधर परदेश जाकर व्यक्ति नए माहौल में रम जाता है। शहरी चकाचौंध में अपने आप को भूल जाता है। शहर में मजदूरों का जीवन उपेक्षित ही होता है।

"टुटहे खपड़ैल की बाड़ी, दो–दो पाँत में कच्चे घर। एक कोठरी, एक छोटा बैठका जिसको बरामदा कहते हैं। एक–एक कोठरी में चार–चार आदमी रहते हैं, पारी–पारी से खाना बनाते हैं, नलके चाहें कुएँ से पानी लाते हैं। बाड़ी के दूसरे लोग भी उड़िया, बंगाली और बिहारी हैं, जो रिक्शा चलाते हैं, मोटिया ढोते हैं या दिहाड़ी पर कुलीगिरी करते हैं। रेलवई के बहुत कम लोग हैं। निपटान के लिए खुले मैदान या झाड़ी या पोखर। बाल–बच्चा शायद ही कोई रखता हो।"[18]

अपनी जगह से कटकर मनुष्य नारकीय जीवन जीने को विवश है। शहर की भाग–दौड़ वाली जिंदगी में स्वयं को भुलाए रखता है। अपने घर, परिवार, गाँव–ज्वार की टीस हर पल मन में उठती रहती है। पैसे के आगे सारे रिश्तों को ताक पर रख देता है। जब चार पैसे हाथ में आते हैं तो मन दूसरी चीजों की ओर आकर्षित होता है। अतः वे बुरी आदतों के शिकार होते हैं। नशाखोरी और परस्त्रीगामिता इनमें प्रमुख हैं। जीवित रहने के लिए दो चीजें की आवश्यकता पड़ती है – रोटी और सेक्स (कामभाव)। ये दोनों चीजें सृष्टि की मूल आवश्यकताएँ हैं। शरीर को गतिमान रखने के लिए रोटी पहली आवश्यकता बनती है। प्रवासी व्यक्ति अर्थ के बल पर इन्हीं दोनों मूलभूत आवश्यकताओं पर जीवित रहता है। अतः रखैल को घर बैठा लेता है। उधर उसकी पत्नी बाट जोहती ही रह जाती है।

"घर में बैठी है प्यारी सुंदरी। गली–गली में भटक रहे हैं उसके पति....

लेकिन बटोही कहाँ से? बाट के बटोही.....?

"बची रंडी तो वह तो हर कहीं हैं – हर पुरुष के मन की दमित वासना की अपनी पनाहगाह।"[19]

गौरतलब है कि सारे परदेशी परस्त्रीगामी नहीं है। वे अपने घर पैसे भेजते हैं तथा घरवालों को हर पल याद करते हैं। इनका शरीर तो यहाँ होता है किंतु मन अभी भी गाँव में है। उनकी हर बात में गाँव और परिवार जिंदा है स्मृतियों के रूप में। पैसों के लिए प्रवासी बने व्यक्ति का मन विरह की आग में झुलसते हुए भावहीन जिंदगी जीने को विवश होता है।

"देसवासी आदमी जो भी मिला, परदेशी मिला, नई–नई ब्याहता पत्नी को छोड़कर पैसा कमाने के लिए आया हुआ। जैसे–तैसे जिंदगी जीते हुए, नाच, तमाशा, बतकही में मन को भुलाए हुए और बतकही भी क्या.... गाँव–जवार, पत्नी, माँ–बाप, बच्चों की यादें, सीने की धुकधुकी में हर पल बजता हुआ गाँव।"[20]

कला की उपेक्षा :

संजीव ने भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व को सावधानी से पकड़ा है। व्यक्ति, समाज और कला के बीच के शाश्वत द्वन्द्व में एक कलाकार का खुद को बचा लेना मूल है। यहाँ भिखारी ठाकुर की कला यात्रा को आरंभ से अंत तक वर्णित किया गया है। उनके भीतर कला के सहज उल्लास, उसकी सामाजिक चेतना और मूल्यबोध के सवाल को बार–बार उठाया गया है। भिखारी ठाकुर की कला यात्रा का आरंभ उपदेशक की तरह होता है – रसिकता बाद में जुड़ती है। अपनी कला को माँजते हुए, बदलते हुए भिखारी खुद का भी मार्जन करते चलते हैं। भांड, नचनिया, समाजद्रोही कहलाने की तोहमत सर आँखों पर लेते हैं। श्रृंगारिकता के साथ–साथ मर्यादा का हमेशा ध्यान रखते हैं।

तत्कालीन समाज में कला को भी कई स्तरों में विभाजित कर दिया गया था। नृत्य, संगीत जैसी कला को हेय दृष्टि से देखा जाता था। नाच शब्द पर ही भद्र समाज (तथाकथित) नाक भौं सिकोड़ता था। नृत्य गिरे हुए स्तर का पेशा माना जाता था। नृत्य, तमाशा जैसी कलाएँ मात्र मनोरंजन के लिए मानी जाती

थीं। कला के स्तर पर उनका स्थान नगण्य था। तथाकथित भद्र समाज ने भिखारी ठाकुर की कला को कुंठित करने की अनेक कोशिशें की। उन्हें नचनिया, मेहरारू आदि का नाम दिया। भिखारी ठाकुर के पुंसत्व पर प्रश्न खड़ा किया। उस समाज की यह मान्यता थी कि स्त्री का अभिनय करते–करते पुरुष स्त्री बन जाता है। उनकी मर्दानगी धीरे–धीरे क्षीण होती जाती है। संजीव इस घटिया सोच की कलई खोलकर रख देते हैं। भिखारी ठाकुर के स्वर में उनकी ही सोच मुखर हुई है –

"नाई की नाच मंडली में इक्के–दुक्के ब्राह्मण, राजपूत एक तरह के अपवाद ही हैं। गीत–संगीत, साहित्य और कला का मोह इन्हें एक ओर खींचता है तो जातीय श्रेष्ठता का मारा समाज दूसरी ओर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ओर से लक्ष्मण रेखाएँ खींचता है यह समाज। आड़े–उलटे, कितनी ही बार बड़ी जाति के लोगों ने कहा कि भिखारी समाज का नाश कर रहा है, लौंडेबाजी को बढ़ावा दे रहा है, बेटियों को बहका–उकसा रहा है। यह भी कहा, नाचनेवालों में मरद की मर्दानगी धीरे–धीरे समाप्त होती जाती है।"[21]

नृत्य को ईश्वर की दी हुई कला मानकर भिखारी ने नृत्य को निम्न स्तर से उठाकर ऊपर लाया। नृत्य के बारे में ग्रामीण लोगों की आम राय को बदलने की भरपूर चेष्टा की। मार्यादा की सीमा कभी नहीं लांघी। उस समय जितनी नृत्य मंडलियाँ अस्तित्व में थी अश्लीलता ही परोसती थी उनके लिए नृत्य का मतलब थी 'नकली स्तन बांध कर चूची–चूतर मटकाना उन। नर्तकों का यह मानना था कि जनता यही सब देखने आती है। कहीं–कहीं नर्तकों का यौन शोषण भी होता था। कुछ नर्तक तो पुरुष रखैल के रूप में किसी जमींदार के यहाँ भी रहते थे। परंतु भिखारी ठाकुर की सोच ऐसी नहीं थी। वे नृत्य को भगवान शंकर का वरदान मानते थे। नृत्य के बारे में बनी बनाई धारणा को बदलकर उच्चता के शिखर तक लाते हैं। आम राय को बदलने की चेष्टा में वे सफल भी होते हैं। कहाँ तो बड़ी जातियों के लड़कों के लिए नृत्य देखना तक वर्जित था, वहीं उनकी पिताओं ने भी छुप–छुप कर भिखारी ठाकुर का नृत्य देखा।

अस्मिता की तलाश भिखारी ठाकुर को नृत्य जैसे घृणित (तथाकथित) पेशे की ओर ले जाती है। अपनी कला की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए उन्होंने मर्यादा की अवमानना कभी नहीं की। उनके नृत्य दल में ज्यादातर निम्न जाति के ही लोग थे किंतु कुछ कलाकार उच्च वर्ग के भी थे। ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में चाहे जिस स्तर पर व्यक्ति हो लेकिन नाच दल में है तो उसका स्थान समाज के निचले पायदान पर ही सिद्ध होता है।

"नचनियों, बजनियों और अछूतों की अलग पाँच बैठती थी। पहले बाभनों की पाँत बैठी दुआर पर, फिर साफ–सफाई छिड़काव के बाद राजपूतों की, उसके बाद दूसरी जातियों की। इसी के साथ मूल पाँत से काफी दूर हट–हटाकर पशुओं की सार के बदबू देते कीचड़ के बगल में नचनियों, बजनियों, अछूतों की पाँत बैठाई गई।"[22] इन कलाकारों को वही स्थान प्रदान किया गया जो तथाकथित अछूतों का था। नाच मंडली में चाहे जिस जाति का व्यक्ति हो, समाज में उसे अपनी जाति के अनुसार स्थान नही दिया जाता था। जहाँ जाति के आधार पर कला की श्रेष्ठता... निकृष्ठता का परीक्षण किया जाता है वैसे समाज में कलाकार शोषण का ही शिकार हो सकता है। समाज की ऐसी मानसिकता कलाकारों के मनोबल को तोड़ती है। प्रतिभावान तथा सद्चरित्र होने के बावजूद भिखारी ठाकुर समाज द्वारा स्वीकारे नहीं जाते वहीं महेंदर मिसिर जातिगत श्रेष्ठता के बल पर स्वीकार्य होते हैं। भिखारी ठाकुर की कला के कद्रदान शोषित वर्ग के लोग हैं जबकि महेन्दर मिसिर की कला के कद्रदानों की कमी नहीं है।

भिखारी ठाकुर की कलात्मक अभिव्यक्ति की सफलता पर कथ्य को लेकर विवाद उपस्थित हो गया। साहित्यकारों का एक दल भिखारी के पीछे पड़ गया। गणेश चौबे जैसे साहित्यकार भिखारी ठाकुर की मौलिकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। अपना सिंहासन डोलते देखकर साहित्य के पुरोधाओं से रहा नहीं गया। कला के क्षेत्र में भिखारी का अनाधिकार प्रवेश उन्हें फूँटी आँख नहीं सुहाता। वे तरह–तरह के हत्थकंडे अपनाकर अपनी छोटी सोच को उजागर कर देते हैं। भिखारी ठाकुर की कला में उन्हें दोष ही दोष नजर आता है। ब्राह्मण निंदा, नाई स्तुति, आपन बखान, जैसे दोष ढूँढ़ते हैं। विदेशिया को रघुबीर सिंह की बटोहिया

की नकल बताते हैं तो बेटी–बेचवा को विद्यापति की 'हम नाहिं' रहब आजु एहिअँगना' की। मौलिकता की बात करना तो भिखारी को खारिज करने का एक बहाना है।

तमाम उतार–चढ़ाव के बावजूद भिखारी अपने अंदर के कलाकार को मरने नहीं देते। भिखारी से मलिक जी बनने की यात्रा में उपेक्षा थीं तो प्रोत्साहित करने वाले लोगों की भी कमी नहीं थी। बाबूलाल, रामानंद सिंह, रामध्यान सिंह, मिर्चइया बाबा, रामसूरत सिंह, भगवान साहु, महेंदर मिसिर सरीखे लोगों ने भरपूर साथ दिया। इन लोगों ने भिखारी ठाकुर की प्रतिभा को पहचाना और समय–समय पर आर्थिक के साथ–साथ भावनात्मक सहारा देकर प्रोत्साहित किया। अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाने के लिए भिखारी ठाकुर ने संस्कृत सीखा तथा कठिन परिश्रम के बाद राम के अट्ठावन पुस्तों के नाम बिना अटके सुनाने का कौशल दिखाया।

भिखारी का मन साधारण शक्तिवाला औसत मन नहीं है, उसमें सृजनशीलता की अपार क्षमता और कष्ट सहने में अद्भुत दृढ़ता है। जिस परिवेश से वे टकराते हैं, वह भी अपनी जगह से टस से मस होनेवाला नहीं, विराट और व्यापक होने के साथ वह आक्रामक भी है। पर भिखारी में इस आक्रमण से बचने के लिए विनय के साथ क्षमा माँगने का आग्रह भी हैं। पूँजीपति, सामंती समाज व्यवस्था में कलाकार के मन में आत्मनिर्वासन और अकेलेपन की भावना इस तरह व्यक्ति और व्यवस्था की टक्कर से जर्जर रूढ़ियों और नए मूल्यों के संघर्ष से उत्पन्न होती है। एक संघर्ष बाहर संसार में है, एक संघर्ष मन के भीतर। दोनों संघर्ष एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। भिखारी के मन की जलन का संबंध उस परिवेश से है जो उनकी कला को तिरस्कृत करता है, उनकी सामाजिक स्थिति पर क्षुब्ध होता है। दुख और अपमान की ज्वलाएँ इसी से फूटकर भिखारी के मन–मरुस्थल को दग्ध करती हैं। इन ज्वालाओं को पीकर उसी परिवेश से जूझने के लिए वह शक्ति संचय करते हैं। प्रत्येक स्थिति में एक बात स्पष्ट होती है कि भिखारी अपने परिवेश में स्वयं को अकेला पाते हैं। समाज में जातीय स्थिति के अनुसार हीनता का भाव है तो कला–साहित्य की दुनिया में भी उन्हें स्वीकारा नहीं जाता। आम–निर्वासन से जो कष्ट होता है, उसे दूर करने का उपाय है आत्मविश्लेषण।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे और भी अकेले हैं। यह अकेलापन बुढ़ापा आने के कारण ही नहीं पैदा हुआ, यह एक मेला है जो उनसे दूर हटता जा रहा है, वैसे ही जैसे लोग मुंह फेरकर बोलते हैं। अकेलापन धीरे–धीरे बढ़ता जाता है, स्मृतियों की बाढ़ बहाए ले जाती है। सब कुछ छूटता नजर आता है। परिवेश, स्थितियाँ बदल जाती हैं परंतु नहीं बदलता है वह त्रास का भाव जो परिवेश से टकराने और बार–बार आहत होने से पैदा हुआ है। यह दुःख उन्हे पस्त और बेबस कर देता है, संसार को देखने–पहचानने की शक्ति शिथिल हो जाती है, सामने के दृश्य दुःस्वप्न की तरह मन पर छा जाते हैं। भीतर जलन होती है पर शरीर भस्म नहीं होता। अंदर का रस सूखता जाता है, एक रग दुखती है जिससे पता चलता है कि शरीर जीवित है परंतु चेतना भूमि के जितने हिस्से में रस सूख जाता है, उतने में संज्ञा लौटकर नहीं आती।

जीवन में रस संचार :

कुतुबपुर गाँव के (निम्नवर्गीय) लोगों में जीने का अदम्य साहस है। लोग भोले, भीरु और ईमानदार हैं। मेहनत करने पर भी उन्हें पारिश्रमिक नहीं मिलता। असीम यातना, अपमान, गरीबी और दुख भोगने के बावजूद वे जिंदगी से जद्दोजहद जारी रखते हैं। उच्चवर्गीय ग्रामीणों को छोड़कर अन्य जातियों में मानवता के गुण कूट–कूट कर भरे हुए हैं। उनमें ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा, त्याग, सहयोग, परोपकार आदि गुण सहज पाए जाते हैं। ये गुण संस्कारगत होते हैं। बाढ़ के समय राम गोंड़ का बिंद बहू की मदद के लिए आगे आना इसका सटीक उदाहरण है। इन्हीं गुणों के कारण वे सच्चे इंसान हैं। एक–दूसरे के सुख–दुख में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेते हैं। विभिन्न संस्कारों (विवाह, उपनयन, दाह आदि) तीज–त्यौहारों में इनकी भागीदारी होती है। होली जैसे पर्व में तो ऊँच–नीच का भेदभाव भी मिट जाता है।

"सात दिन सात गाँवों में फगुआ गाते बीते और आज आठवें दिन चैन से सोने का सवाल ही नहीं है – सम्मत (होली) जो जलेगा आज। होली की हुड़दंग कभी इधर से तो कभी उधर से।"[23]

"लड़के लुकारी लेकर निकल पड़े, बड़े–बूढ़ों ने तीसी, जौ के अधपके पौधों को होलिका में जलाकर समहुत की। वहीं से शुरु हो गया फाग का गायन जो दूसरे दिन गजाधर सिंह और लालाजी के दुआर पर 'फागुन फाग पिया संग खेलब, चैत, खेलब बरजोरी ई–ई–ई।' से समापन हुआ।"[24] संजीव का हृदय ग्रामीणों के साथ निश्छल और निर्मल है। वे उनके साथ सच्चे मन से हँसते–रोते हैं। पात्रों के साथ और उन पर उनका हँसना–रोना उनकी गहरी संवेदनशीलता का प्रमाण है। टार्च खरीदकर गाँव ले जाते समय गँवई व्यक्ति क्या सोच सकता है उसी की दृष्टि से देखते हैं –

"सबसे अचरज चोर बत्ती को देखकर होगा, ए भाई एकरा में माचिस ना लगेला?

कहेंगे, "नइरवे बुझाता? ई बटन दबाई और झक दिया इंजोर, बटन छोड़ देई फेर जस के तस अन्हेंर! केहू बूझी कि का ले ले बानी।"[25]

कुछ चीजें ग्रामीणों के लिए रहस्य का कारण बन जाती हैं। वे पहली बार हंडर लैंप देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। अपने सामर्थ्य के अनुसार समझने और दूसरों को समझाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे – हंडर लैंप से जलनेवाली रोशनी से ग्रमीण हैरान हैं क्योंकि उसके मेंटल से दिन–सा उजाला दिखाई दे रहा है।

"रोशनी के लिए यहाँ लुक्का या मशाल नहीं, बड़े–बड़े हंडर लैंप जलाए जा रहे थे, जिनके मेंटल से दिन–सा उजाला होगा। बड़े–बूढ़े लड़कों को अभी से हिदायत दिए जा रहे हैं, "ज्यादा देर तक ओकरा के ना ताके के ना तो आँखि के जोत चल जाई।"[26]

पहली बार हवाई जहाज को देखकर भी लोगों में कौतूहल जाग जाता है। अपनी जिज्ञासा को दबा नहीं पाते। उसकी गुर्राहट–भरी आवाज को सुनकर डर जाते हैं। तरह–तरह की अफवाहें फैल जाती हैं।

"अफवाह के चलते दूसरे कई लोग भी 'दहाज' के नाम से डरने लगे हैं। पता चला कि दहाज ऊपर–ही–ऊपर से देखता रहता है, नीचे जैसे ही उसे कोई जवान आदमी दिखा, वह 'चील्ह–झपट्टा' मारकर उसे ले उड़ता है और फौज में

भरती कर लेता है, सो अब गड़गड़ाहट की आवाज सुनते ही बड़े–बूढ़े लोग जवानों को डाँटते हैं, लुका जाओ, दहाज आ रहा है।"[27]

नई–पुरानी पीढ़ियों का द्वन्द्व :

संजीव ने दो पीढ़ियों के मूल्यगत द्वन्द्व का भी चित्रण किया है। पिता पीढ़ी (दलसिंगार ठाकुर) और पुत्र–पीढ़ी (भिखारी ठाकुर) की जीवनगत दृष्टिकोण में आए भारी अंतर को पिता–पुत्र के बीच चलनेवाले शीतयुद्ध द्वारा उभारा गया है। पैतृक पेशे से अलग नृत्य का पेशा अपनाने पर यह तनाव शुरु हुआ था जो दो पीढ़ियों के अलग–अलग सोच को दर्शाता है।

भिखारी सोचते हैं – हुँह, 'सीता माई' कहकर ताने कस रहे थे। दूसरी जगह नाच और गवनई में मूँडी हिलाएँगे, वाह! वाह!! शाबासियाँ देते हुए थकेंगे नहीं। और अपने घर में हो तो...? इन दोमुंहेपन को क्या कहें? वह चाहे तो कईयों से अच्छा करके दिखा सकता है, लेकिन नसीब में तो हज्जामी लिखी है।"[28]

पहली बार कुल्हाड़ियाँ महाराज के बुलावे पर भिखारी ठाकुर का नाच होता है और ससम्मान उन्हें बुलाया गया। इस बात पर दलसिंगार ठाकुर ने जो बार–बार कुढ़ते थे, मौन धारण कर लिया है –

"दलसिंगार ठाकुर कुछ नहीं बोलते। यह बेटे की सफलता है या कलंक – यह भी ठीक–ठीक तय नहीं कर पाते। एक तरफ राजा साहब की अनुग्रह था, दूसरी तरफ नाच का घृणित पेशा।"[29]

जब भिखारी ठाकुर प्रसिद्ध हो गए और बड़े–बड़े लोगों के यहाँ से नाच का सट्टा आने लगा तो पिता का मलाल कुछ ढीला पड़ा। प्रसन्नता, आत्मसंतोष से उत्तेजित होकर उधर–उधर डोल रहे हैं। "उनकी नजर में वह कोई नचनिया नहीं, ब्यास है। मन करता है, जाकर सिर पर हाथ रख दें, 'हमरा तोहरा से कौनो उजुर नइखे ए बाचा!! तोहरा के समझे में भूल भइल हमरा से।"

लेकिन नहीं, अभी कोई झेंप की झिल्ली है जो बेटे को बाप से और बाप को बेटे से नहीं मिलने दे रही।"[30]

वस्तुतः संजीव अपने उद्देश्य में पूरी तरह से सफल हुए हैं। इस द्वन्द्व की समाप्ति निम्न प्रसंग से की है।

"वर्षों से तुममे–मुझमें परस्पर विरोध की एक ठंडी लड़ाई चलती रही। विरोध का वही जहर मेरी ताकत था, बल था। आज हठात तुम्हारे हट जाने से संतुलन खोकर मुंह के बल आ गिरा हूँ मैं! तुम इतनी जल्दी क्यों चले गए बाबू जी?"[31] गँवई जीवन में नृत्य, संगीत मनोरजंन के साधन माने जाते हैं। कहने की आवश्यता नहीं कि जनसामान्य में नाच की क्या धारणा थी। ऐसी धारणा लोक नाटक तथा सस्ते मनोरंजन वाले नृत्यों से पनपी थी जो अश्लीलता ही परोसते थे। यह बात दूसरी है कि लोग इन्हें देखते थे – पर कौन से लोग? वे लोग जिन्हें सभ्य और सांस्कृतिक कहे जानेवाले लोग गिरी दृष्टि से देखते थे। शायद इसी तरह से दर्शक समाज में भी इनका स्थान केवल इतना ही था कि ये मनोरंजन की सामग्री है। किंतु भिखारी ठाकुर इसे साधना मानते हैं तभी तो कहते हैं – "मर्यादा भी न टूटे और घूँघट भी बना रहे।"

नाच का मतलब सिर्फ स्त्रियों के हाव–भाव दिखाना, कमर मटकाना नहीं है बल्कि उससे बहुत आगे की चीज है। नाचना, गाना कोई हेय कर्म नहीं है भगवान शंकर के तांडव से लेकर, कृष्ण के कालिया के फन पर नाचना हजारों उदाहरण हैं जो इस कला की श्रेष्ठता बताते हैं। भिखारी ठाकुर मर्यादित नाटक के साथ–साथ सामाजिक बुराइयों का भी पर्दाफाश करते हैं। अपनी बात को नाटकों एवं नृत्यसंगीत के द्वारा गँवई जनता तक पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। वे सामाजिक बुराईयों को जड़ से खत्म करने के लिए कटिबद्ध थे। ग़ौरतलब है कि भारत में कविताओं, नाटकों का बहुत बड़ा प्रभाव जनमानस पर रहा है, मसलन भारतेंदु के नाटकों या कबीर के दोहों ने सोयी हुई चेतना को जगाने का काम किया था। ठेठ गँवई शैली में भिखारी विशिष्ट नियमों, रूढ़ियों, अंधपरंपराओं एवं मान्यताओं को चुनौती देते हैं। उनकी पर्यवेक्षण शक्ति विलक्षण है अतः व्यक्ति की नहीं समाज की आवश्यकताओं, सांस्कृतिक और बौद्धिक आकांक्षाओं, रूचियों, आदर्शों के अनुरूप बदलाव लाते रहते हैं। समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं से जूझने के लिए उन्होंने नाटक का सहारा तो लिया परंतु समाज के अंतरंग पर

अंगुली धरने से पहले उसको सहने लायक बनाने के लिए कलात्मक जवाबदेही भी दी।

महत्वहीन स्वतंत्रता :

ग्रामीण जनता को राजनैतिक हलचलों से ज्यादा सरोकार नहीं होता। देश–दुनिया में क्या हो रहा है इसकी खबर उड़ते–उड़ते उन तक पहुँचती है, जिसका विश्लेषण वे अपनी–अपनी बुद्धि के सामर्थ्य से करते हैं। साँझ को दीया और धूप जलाकर रामायण, सोरठी, बृजभार, प्रेमसागर और सुखसागर का पाठ करनेवाले ग्रामीणों को बतकही में पता चलता है कि उनके देश का नाम भारत है और उस पर अभी अंग्रेजों का राज है। ये अंग्रेज इतने प्रतापी हैं कि इनके राज में सूर्य अस्त नहीं होता। गाहे–बगाहे गाँधी जी के स्वतंत्रता आंदोलनों से परिचित होते हैं। आजादी मिलने के बाद ग्रामीणों की दशा में कितना सुधार होगा यह सोचकर भी ग्रामीण चिंतित हैं। 'सूत्रधार' में इसका उल्लेख कुछ इस प्रकार है–

"राष्ट्रीय स्तर पर पूरे देश में राष्ट्रीयता का ज्वार था, जिसे देखो, वही पूरे ताव पर रहता है, मानो आजादी का डोला उसी के घर में उतरने जा रहा हो। न हुआ रामा! सारे गाँव में झंडा लेकर दौड़ लगाता! मगर भिखारी के मन में कोई हुलास नहीं... हम तो नाई हैं, नचनियाँ हैं, जो काम आजादी के पहले करते थे, वही आजादी के बाद भी करेंगे। लोग बढ़–चढ़कर बात करते हैं जैसे अंग्रेजों के जाने और सुराजियों के आ जाने से रातोंरात सबकुछ बदल जाएगा। गाँधीजी ने बता दिया है कि रामराज्य कैसा होगा, उन्होंने चमारों को पहले ही हरिजन टाइटल दे दी है।, आजादी के बाद से कोई उनको चमार नहीं कहेगा। और जातियों के बारे में उन्होंने क्या टाइटल दिया है, पता नहीं! खुद जात के बनिया हैं। कोई–कोई कहता है तेली। लेकिन ई बाबू साहब और बाबाजी लोग कैसे एक बनिया–तेली के नीचे रहेंगे? क्या पता....? आगे पीछे जरूर कोई तिकड़म करेंगे। कोई–कोई कहता है, जाति रहबे नहीं करेगी। बहुत गड़बड़–झाला है – कुछ समझ में नहीं आता कि क्या–क्या होगा, कैसे–कैसे होगा।"[32]

उत्थान और पतन की यह स्थिति ग्राम जीवन का एक ज्वलंत सत्य है। एक कोण से देखने पर उसमें नवविकास का लहराता स्वर्ग शस्य अठखेलियाँ कर

रहा है और दूसरे पहलू के उभरते ही चतुर्दिक, सांस्कृतिक, सामजिक पराभाव का नरक अपनी आखिल विरूपता लिए उपस्थित है। परंपरा और आधुनिकता के दो ध्रुवांतों के बीच ग्राम जीवन अटका हुआ परम अनिश्चय की स्थिति में है। यह पुरानेपन के व्यामोह को विस्मृत करने में हिंसक रहा है। नवीन वैज्ञानिक नवोत्थन की प्रगतिशील शक्तियों को अस्वीकार नहीं कर पा रहा है। नवपरिवर्तित जीवन संदर्भ और जागतिक स्थितियों के समानांतर वह अपने निजत्व को मोड़ देने के लिए उत्सुकता व्यक्त कर रहा है। अपने अधिकारों के बोध के साथ नए प्रजातांत्रिक मूल्यों को आत्मसात करने के लिए उदग्र है तो यह भी विदित है कि वह अपने अधिकारों से पूर्णतया अनभिज्ञ है। देश में वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना तब तक संभव नहीं है, जब तक हाशिए के लोगों को मान्यता न दिया जाए। संजीव ने गाँव की धरती का जो चित्र खींचा है उसमें शिल्प–विधान भी एक संश्लिष्ट रूप में देखा जा सकता है। एक ओर भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व है तो दूसरी ओर भोजपुरी क्षेत्र की ठेठ वस्तुन्मुखता है। ग्राम के ब्यौरों का चित्रण जितना विस्तृत है वहाँ के जीवन का संवेदनात्मक अंकन उतना ही सूक्ष्म है। कुतुबपुर गाँव कहीं से भी भारत के दूसरे गाँवों से अलग नहीं है। यह सामंती विश्वासों में जीवित भारत का प्रतिनिधि गाँव है और उसके नायक हैं भिखारी ठाकुर। जहाँ तक संजीव की निगाह इस गाँव के प्रतिनिधि स्वरूप पर है, उसकी मूलवर्ती समस्या पर है, साधारण जन की यातना और संघर्ष पर, एक कलाकार के ऊपर उठने के संघर्ष पर है, कथा सुविन्यस्त रूप से आगे बढ़ती है। रेणु और प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा में संजीव अपनी सर्जनात्मक क्षमता का परिचय देते हैं। अतएव उनका बलाघात भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व पर है। अतः वे बोली–बानी की भिन्नता तथा वैशिष्ट्य, लोकगीतों, रीति–रिवाजों तथा तमाम सारे बाहरी उपकरणों के सहारे कथा बुनते हैं। वर्तमान एक ध्रुवीय व्यवस्था (भूमंडलीकरण) का प्रतिरोध तो सशक्त स्थानीय विमर्श से ही हो सकता है। संजीव ने एक साथ ग्रामीण जीवन की विसंगति, स्थानीयता और लोकसंस्कृति को मुद्दा बनाकर उल्लेखनीय कार्य किया है। इति!

****

संदर्भ–संकेत :

---

[1] सूत्रधार, पृ.210
[2] वही, पृ.213
[3] वही, पृ.104
[4] वही, पृ.105
[5] हंस, पृ.87
[6] वही, पृ.36
[7] भिखारी ठाकुर – भिखारी ठाकुर ग्रंथावली–1, पृ.
[8] वही, पृ.64
[9] वही, पृ.18
[10] वही, पृ.106
[11] वही, पृ.161
[12] वही, पृ.162
[13] वही, पृ.23
[14] वही, पृ.31
[15] वही, पृ.17
[16] वही, पृ.168
[17] वही, पृ.88
[18] वही, पृ.37
[19] वही, पृ.79
[20] वही, पृ.42
[21] वही, पृ.245
[22] वही, पृ.121
[23] वही, पृ.137
[24] वही, पृ.138
[25] वही, पृ.180
[26] वही, पृ.142
[27] वही, पृ.218
[28] वही, पृ.47
[29] वही, पृ.142
[30] वही, पृ.149
[31] वही, पृ.223
[32] वही, पृ.241

उपसंहार

भोजपुरी संस्कृति के किंवदंती बन चुके भिखारी ठाकुर के जीवन–वृत्त पर आधृत 'सूत्रधार' हिंदी के सामाजिक–सांस्कृतिक ऐतिहासिक मूल्यबोध के बीच सांस लेते लोक कलाकार के व्यक्तित्व से लेकर कृतित्व तक की महायात्रा का जीवंत दस्तावेज है। जाति व्यवस्था के दंश से एक व्यक्तित्व किस कदर बार–बार आहत होता है, परंपरागत जंजीरों में जकड़कर सामाजिक कुप्रथाओं के निमर्म पहियों तले लहुलुहान होता है – उपन्यास में बनते–बिगड़ते कलाकार के रूपांतरण की इस प्रक्रिया को बखूबी दर्शाया गया है। सत्य और तथ्य के जरिए लगातार औपन्यासिक कथा प्रवाह को संजीव ने अंत तक बनाए रखा है।

'सूत्रधार' के नायक भिखारी ठाकुर का जीवन संघर्ष बहुआयामी है। भिखारी ठाकुर में कलाकार के रूप में जीने की चाह है किंतु यह कलाकार जब न तब कला को किनारे रखकर नोहरनी, उस्तरा पकड़कर नाई बनने को विवश किया जाता है। गरीबी, गुलामी और सामंती व्यवस्था के जिस दौर में भिखारी ठाकुर पैदा हुए थे, वह समय सवर्णों द्वारा नाटक लिखकर अभिनय करने या नाचने–गाने जैसे काम को हेय दृष्टि से देखता था। परिणाम यह हुआ कि घर–परिवार से लेकर समाज तक में उपेक्षा ही उपेक्षा मिली। पिता ने नाक कटवा देने की तोहमत लगाई तो पत्नी ने पुंसत्व की परीक्षा की। पेट पालने के लिए परंपरागत पेशे को ढोने की मजबूरी – ऊपर से 'नचनिया' कहे जाने का दंश झेलने को अभिशप्त रंगकर्मी भिखारी ठाकुर की संवेदनशीलता के ब्यौरे उपन्यास में जीवंत हो गए हैं।

संजीव ने इस बात की गहन जाँच पड़ताल की है कि वह कौन सी ताकत थी, जिसने देश–विदेश में फैले भोजपुरी भाषियों और अन्य देशवासियों को अपनी तरफ खींच लिया, माटी के मूल मर्म को पकड़ लिया और उसे जबान दी। 'सूत्रधार' से गुजरते हुए हम देखते हैं कि अनगढ़ ही सही पर अपने समय और समाज के प्रति भिखारी का एक खास दृष्टिकोण रहा है। गूंगे–बहरे समाज के लिए वे ऐसी आँख, कान और जुबान लेकर आते हैं जिसमें बहुजनहिताय की

सामाजिक चेतना को बल मिला। भिखारी ठाकुर ने शास्त्र पढ़कर समाज को नहीं समझा था, उनका यथार्थ अनुभव ही उन्हें अनभै सांचा बनाता है। उन्होंने कल्पना–प्रसूत साहित्य की रचना नहीं की बल्कि लेखकीय कर्म के लिए वस्तु संग्रह केवल समाज से ही किया। जैसा उनका अनुभव था। वैसी ही रचनाएं भी। उन्होंने विशिष्ट नियमों, रूढ़ियों, अंध परंपराओं एवं मान्यताओं के बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया। अपनी पर्यवेक्षण शक्ति के बल पर व्यक्ति ही नहीं, समाज की आवश्यकताओं, रूचियों, आदर्शों के अनुरूप उन्होंने बदलाव लाने की चेष्टा की।

संजीव ने भिखारी के उपजीव्य और रचना कौशल के साथ चयन–प्रतिचयन और रचनात्मक विवेक की कशमकश को भी बखूबी चित्रित किया है। यथार्थ की जटिलता को पहचानने की संजीव की अपने शैली है। वर्गीकृत ढंग से यथार्थ को उपन्यास में ढालना उन्हें खूब आता है। संजीव सौंदर्य प्रक्रिया से यथार्थ के जटिल बिंब उपस्थित करनेवाले समर्थ साहित्यकार हैं अतः सामजिक यथार्थ के अनंत रूप, उनके दृश्यों, लोकगीतों, लोक कथाओं, प्रकृति–चित्रों, संवादों, आदि में अंर्तव्याप्त हैं। व्यंग्य, करूणा, विद्रोह, प्रेम आदि के समावेश के साथ समाज से सड़ी गली परंपराओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। संजीव ने परकाया प्रवेश कर भिखारी ठाकुर को फिर से स्थापित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। भिखारी ठाकुर को किसी उदात्त और भव्य नायक की तरह प्रतिष्ठित नहीं किया बल्कि भिखारी ठाकुर की परंपरा में ही विन्यास किया है। एक गँवई व्यक्ति किस प्रकार समाज की अंधपरंपराओं और विसंगतियों को देखता है और उसके खिलाफ मुहिम छेड़ता है इसका ज्वलंत उदाहरण है 'सूत्रधार' में वर्णित भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व। पूँजीपति, सामंती समाज व्यवस्था में कलाकार के मन में आत्मनिर्वासन और अकेलेपन की भावना कलाकार के मन को कुंठित करने की कोशिश करती हैं किंतु भिखारी टूटे नहीं हैं बल्कि हर प्रहार पर और तेजी से उभरकर आए हैं। सत्य कहने का साहस ही उन्हें अन्यों से अलग करता है। अपनी कला का तिरस्कार और सामाजिक अवमानना पर भिखारी का हृदय बार–बार क्षुब्ध होता है, वे बार–बार आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। अपने मन की दग्ध–ज्वलंताओं को, अपने हिया के हाहाकार को अपनी रचना में उड़ेल देते हैं। सामाजिक

समस्याओं के साथ–साथ व्यक्ति के टूटन को दर्शाता यह उपन्यास पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न समस्याओं के विरुद्ध भी आवाज उठाता है।

उपन्यास में एक ओर भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व है तो दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र की ठेठ वस्तुन्मुखता। ग्रामीण समाज, संस्कृति के ब्यौरों के चित्रण में जितनी विस्तृता है, वहां के जीवन का उतना ही संवेदनात्मक अंकन सूक्ष्म है। संजीव की दृष्टि इस गांव के प्रतिनिधि स्वरूप पर है, उसकी जड़ परंपराओं और समस्याओं पर है, एक कलाकार के सतह से ऊपर उठने के संताप, यातना और संघर्ष पर है। कहीं–कहीं जाति व्यवस्था का वर्णन अनावश्यक और जरूरत से ज्यादा हो गया है, कमोबेश यही इस उपन्यास की कमी है। उपन्यास का अंतिम भाग भिखारी ठाकुर के अकेलेपन की अकुलाहट और आत्मविश्लेषण को दर्शाता है। भिखारी के परिवेश, स्थितियों और दशा में बदलाव आता है किंतु वह त्रास भाव जो परिवेश से टकराने और आहत होने से पैदा हुआ था नहीं बदला। मन के भीतर जलन होती है किंतु शरीर भस्म नहीं होता।

बदलते समाज और बदलते परिवेश को बखूबी पकड़ते हुए संजीव ने अप्रासंगिक होती लोक कलाओं पर चिंता व्यक्त की है। सिनेमा के जादुई असर के बीच सांस लेती लोक कला कब तक जिंदा रह पाएगी – यह एक मार्मिक प्रश्न है जिस पर लगातार क्लांत और अशक्त हो रहे भिखारी ठाकुर विश्लेषण करते हैं। यह प्रश्न भिखारी ठाकुर के भीतर प्रवेश किए संजीव का है जो लोक कला की गिरती स्थिति पर चिंतित है। भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व को स्थापित करने में संजीव सफल हुए हैं। सत्य कहने का साहस उनमें कूट–कूट कर भरा हुआ है तभी उन्होंने लिखा है – नाच काँच है बात साँच है।

संदर्भ सूची

केदार, चौधरी : *भिखारी ठाकुर के नाटकों में लोक–चेतना लघु शोध प्रबंध*
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय पुस्तकालय
नई दिल्ली,

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : *भोजपुरी लोक–साहित्य का अध्ययन*
हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानव्यापी
वाराणसी–1

फणीश्वरनाथ 'रेणु' : *मैला आँचल*
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–02
प्रथम संस्करण 1984

भवदेव पाण्डे : *पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'*
साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन 35
फीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली–110001
प्रथम संस्करण 2001

भगवती प्रसाद द्विवेदी : *भिखारी ठाकुर : भोजपुरी के भारतेंदु*
आशु प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000

भिखारी ठाकुर : *भिखारी हरिकीर्तन*
दूधनाथ पुस्तकालय एवं प्रेस
63, सूत्ता पट्टी, कलकत्ता–7
प्रथम संस्करण 1944

भिखारी ठाकुर : *चौवर्ण पदवी (नाई पुकार)*
प्रकाशक भिखारी ठाकुर आश्रम
कुतुबपुर, पो. गुल्टेनगंज, (सारण)
प्रथम संस्करण 1951

भिखारी ठाकुर : *देवकीर्तन*
दूधनाथ पुस्तकालय एवं प्रेस
63, सूत्ता पट्टी, कलकत्ता–7
प्रथम संस्करण 1958

भिखारी ठाकुर : *भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खंड–1*
लोक कलाकार, भिखारी ठाकुर आश्रम
कुतुबपुर (सारण)
प्रथम संस्करण विजयादशमी, 1979

भिखारी ठाकुर : *भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खण्ड–2*
लोक कलाकार, भिखारी ठाकुर आश्रम
कुतुबपुर (सारण)
प्रथम संस्करण बसंत पंचमी, 1986

मुंशी प्रेमचंद : *गोदान*
कमल प्रकाशन, 922 कूचा राहिल्ला खान
तिराहा वैरम खान
दरियागंज, नई दिल्ली–110002

मधुरेश : *मैला आँचल का महत्व*
सुमीत प्रकाशन, बी–43 गोविंदपुर,
इलाहाबाद–211004, प्रथम संस्करण 2000

मधुरेश : *हिंदी उपन्यास का विकास*
सुमीत प्रकाशन, बी–43 गोविंदपुर,
इलाहाबाद–211004, प्रथम संस्करण 1998

महेश्वर प्रसाद : *जनकवि भिखारी ठाकुर*
भोजपुरी परिवार, पटना
प्रथम संस्करण 1964

महेश्वराचार्य : *भिखारी*
लोक कलाकार, भिखारी ठाकुर आश्रम
कुतुबपुर (सारण), प्रथम संस्करण, 13 जन.1978

यू. आर अनंत मूर्ति : *संस्कार*
(अनु. चंद्रकांत कुसनूर) राधाकृष्ण पेपर बैक्स, जी–17, जगतपुरी
दिल्ली–110051, प्रथम संस्करण 2001

रामविलास शर्मा : *प्रेमचंद और उनका युग*
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, पटना, पहला छात्र संस्करण 1993

रामविलास शर्मा : *निराला की साहित्य साधना–2*
राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि.
1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–02
तृतीय संस्करण 1990

सुरेश कुमार : *प्रेमचंद और भारतीय साहित्य*
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा
प्रथम संस्करण 1983

संजीव : *सूत्रधार*
राधाकृष्ण पेपर बैक्स, जी–17, जगतपुरी
दिल्ली–110051, प्रथम संस्करण 2004

संजीव : *धार*
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज,
नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण 1990

संजीव : *जंगल जहां से शुरु होता है*
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज,
नई दिल्ली–110002

संजीव : *दुनिया की सबसे हसीन औरत*
यात्री प्रकाशन, बी–131, सादतपुर,
दिल्ली–110094, प्रथम संस्करण 1993

संजीव : *सर्कस*
राधाकृष्ण पेपर बैक्स, जी–17, जगतपुरी
दिल्ली–110051, प्रथम संस्करण 1984

संजीव : *सावधान! नीचे आग है*
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज,
नई दिल्ली–110002, 1986

पत्र–पत्रिकाएँ :

इंद्रप्रस्थ भारती, त्रैमासिक पत्रिका, अप्रैल–जून 2003, आलेख – श्री भगवती प्रसाद, जनकवि भिखारी और उनके जनगीतों की प्रासंगिकता

इंडिया टुडे, साहित्य विशेषांक, 2003, विद्यासागर नौटियाल

इंडिया टुडे, साप्ताहिक, 14 मई, 2003, विनोद अनुपम

इंद्रप्रस्थ भारती, जनवरी–मार्च 2004, राजीव रंजन गिरि, हीरा भोजपुरी का हेराया बाज़ार में।

कादम्बिनी (मासिक), जुलाई 2003, लेख, लेखक – भगवती प्रसाद द्विवेदी, भोजपुरी के शेक्सपियर भिखारी ठाकुर।

कथाक्रम – अप्रैल–जून 2004/98, रजनी गुप्त, सतह से उठते सूत्रधार से संलाप।

कथादेश – मई 2005 (मासिक), संजीव, उपन्यास 'सूत्रधार' की रचना प्रक्रिया।

गंगा (मासिक पत्रिका) – दिल्ली, सितंबर 1986

जनशक्ति (रविवारीय), 8 फरवरी, 1987

तद्भव (मासिक), अंक–10, जनवरी 2003, प्रीति चौधरी, जाति, स्थानीयता और लोकसंस्कृति का विमर्श

दैनिक हिंदुस्तान – पत्र, 6 अप्रैल 2003, डा. सुनिता का सूत्रधार पर रिव्यू।

नवकल्प – अक्टूबर 1987, अंक–15

नवभारत टाइम्स (रविवार्ता), पटना, 15 जनवरी, 1989

प्रभात खबर – रांची हिंदी दैनिक, रविवार, 20 दिसंबर 1987

बीणा, अगस्त 1972

रंग योग – अप्रैल 1975

विदेसिया – रंग आंदोलन का प्रगतिशील त्रैमासिक, भिखारी ठाकुर विशेषांक–2, सं. अश्विनी कुमार पंकज, 1988

विदेसिया – रंग आंदोलन का प्रगतिशील त्रैमासिक, सं. अश्विनी कुमार पंकज, धुर्वा रांची, भिखारी ठाकुर विशेषांक–1, प्रवेषांक दिसंबर, 1987

सम्मेलन – पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक, 2010 वि.स.

स्मारिका – अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन दसवां अधिवेशन, बोकारो, 8–9 अक्टूबर 1988

स्मारिका – नवम् बिहार राज्य सम्मेलन, 12 13 और 14 फरवरी, 1988, भारतीय जन नाट्य (इप्टा) कन्हैया नगर, डी.ए.वी कालेज सीवान।

Sangeet Natak, Vol.XXXVII No.1, 2002, Book Reviews, Ravi Ranjan Sinha.

हंस – मासिक, नवंबर 2003, प्रियदर्शन, तेरे ही नाल सरोवर पानी।

हंस – मासिक, नवंबर 2003, राजकुमार, पार्टनर, तुम्हारी जाति क्या है?

हंस – मासिक, नवंबर 2003, रवींद्र त्रिपाठी, एक संस्कृति–पुरुष का आख्यान।

विशेष आभार :

भिखारी शोध संस्थान, कुतुबपुर।

भिखारी ठाकुर के परिवार के सदस्य, कुतुबपुर।

संगीत नाटक कला अकादमी, नई दिल्ली।

नागेंद्र सिंह, पटना

रामदास राही, आरा।

भगवती प्रसाद द्विवेदी, पटना।

नरेन कुमार सिंह – सैदपुर, पटना।

भिखारी ठाकुर के पड़ोसी।